है जैसे कि उनकी कोई तुलना ही न हो। उसका अपनी नामवरी में इतना मोह होता है कि शत प्रतिशत झूठे तथ्यों का श्रेय भी वह ले लेता है। आत्मा के गुणों को कषने के लिए मान अकेला नहीं आता है। वह अपने साथ अनेक विकारों की फौज भी लाता है जो आत्मा के नैतिक धरातल को क्रूरतापूर्वक रौंदते रहते हैं।

मान की उन्मत्तता मनुष्य को संज्ञा–शून्य सा बना देती है जिससे उसका सचेत होना कठिन हो जाता है। कोई खतरे भरा धक्का ही उसे जगाता है और तब मान की निरर्थकता उसके सामने स्पष्ट हो पाती है। महाबली मान से मन का पीछा छूटना सौभाग्य की ही बात होती है।

## माया की टेढ़ी-मेढ़ी गलियाँ

मायावी रूप का एक छोटा सा दृष्टांत है। एक व्यक्ति ने एक ज्योतिषी से पूछा कि मेरी पत्नि गर्भवती है सो मेरे को पुत्र प्राप्त होगा या पुत्री ? ज्योतिषी माया का पुजारी था। एक कागज पर उसने लिख कर दे दिया–"पुत्रो न पुत्री" । इस वाक्यांश को दो तरह से पढ़ा जा सकता है। एक तो "पुत्रो न, पुत्री" अर्थात् पुत्र नहीं, पुत्री होगी। दूसरा प्रकार बनता है–"पुत्रो, न पुत्री" अर्थात् पुत्र होगा पुत्री नहीं। यह मायावी कथन है जिससे कोई धोखा खावे। युधिष्ठिर जैसे धर्मराज ने जब यह बोला था–"अश्वत्थामा हतोहतः, नरो वा कुंजरो वा", तब माया का ही प्रयोग किया था। माया की वृत्ति अति कुटिल होती है और हृदय की समग्र सरलता को नष्ट कर देती है। इसी कारण माया को अनेक पापों का स्रोत कहा गया है।

एक मायावी व्यक्ति जिन उपायों से अपने प्रपंचों का जाल फैलाता है और उसमें भोले लोगों को फांसता है, वे होते हैं– कपटपूर्ण व्यवहार, मायाचार का फैलान, प्रतारणा और वंचना, दंभ और आडम्बर का प्रदर्शन, कुटिलता और जटिलता के घात प्रतिघात, गोपनीयता का आवरण तथा दुराव व छिपाव। इन अस्त्रों का महास्त्र होता है छल, जिसकी चपेट से बचना सामान्य लोगों के वश की बात नहीं होती है। इसी कारण माया को शल्य माना गया है जो अतीव पीड़ादायक होता है। मायावी व्यक्ति की आकृति, दृष्टि और भृकुटि में विभंग आदि विकार बने रहते हैं।

माया की टेढ़ी मेढ़ी गलियों में घूमता हुआ व्यक्ति छल और गोपनीयता के रहस्यों में छिपा रहता है और कपटपूर्वक अपने स्वार्थ पूरे करता है। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि मायाचारी व्यक्ति सदा भयभीत रहता है

और दूसरों का दास होता है। लोभ उसका खास इरादा रहता है जिसे वह माया से पूरा करता है। अतः माया के प्रपंच को समझ कर उसमें उलझने से बचना चाहिए।

## कषाय विसर्जन कैसे ?

कषाय के विसर्जन को तब भलीभांति समझ सकेंगे जब पहले इसके सर्जन को समझ लें। कषाय मनुष्य के मन में प्रवेश कैसे करती है और कैसे वहां जम जाती है ? इस संसार में भौतिक पदार्थ चारों ओर फैले हुए रहते हैं तथा अनन्त इच्छाएं मनुष्य के मन में उमड़ती घुमड़ती रहती हैं। इसके साथ ही जीवन में जब आत्मा की जागृति कमजोर होती है तो मन और इन्द्रियाँ अनियंत्रित बन जाती हैं तथा अपने भोग साधनों को पाने की दौड़ लगाती हैं। इसी दौड़ में सम्पर्कों और संघर्षों के परिणाम स्वरूप जिन विकारमय वृत्तियों का जीवन में सर्जन होता है, वे कषाय की वृत्तियां होती हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियां। विभिन्न व्यक्तियों की ये वृत्तियां आपस में टकराती हैं जिनसे राग द्वेष के बीज फूटते हैं तो हिंसा की ज्वालाएं फैलती हैं। कषायों का यह सर्जन आत्मघाती होता है जो आत्मा के संसार में चल रहे भटकाव को अधिक जटिल बना देता हैं।

वीतराग वाणी के श्रवण से, सन्तों के सत्संग से अथवा अन्य किसी कारण से जब आत्मा को प्रबोध मिलता है तो वह अपने विकारों को देखती है, प्रायश्चित करती है और उन विकारों को दूर करने का पुरुषार्थ जुटाती है। चिन्तन और प्रयास के इसी क्रम में वह जागृत आत्मा कषाय के विसर्जन की दिशा में आगे बढ़ती है। जिस कषाय के दुष्परिणामों को उसने भोगा होता है, उनके आत्मघाती स्वरूप से वह भलीभांति परिचित होती है। अतः जिस असावधानी से उसने कषायों का सर्जन किया था, तब उससे कई गुनी सावधानी के साथ वह कषायों का विसर्जन करने में अपने पराक्रम का प्रयोग करती है। ऐसी पुरुषार्थी आत्मा अपनी काषायिक वृत्तियों को पूर्ण रूप से समाप्त करके ही विश्राम लेती है।

## आत्मरक्षा से आत्मानुशासन

एक जागृत एवं पुरुषार्थी आत्मा द्वारा अपनी काषायिक वृत्तियों से संघर्ष का अर्थ होगा कि वह अपने आत्म भावों तथा सद्‌गुणों की रक्षा के लिये सन्नद्ध है। उसकी इस तरह की सन्नद्धता का यह भी संकेत होता है कि उस जीवन में आत्मानुशासन स्थापित हो गया है, जहां मन और इन्द्रियों की मनमानी बन्द

हो चुकी है। संसार के भोग विलासों में आसक्त बनकर जब आत्मा अपने ही मन और शरीर तथा अपनी ही इन्द्रियों के वशीभूत हो जाती है तब संसार के भोग भोगने को मिलें या नहीं, लेकिन आत्मीय गुणों की अपार क्षति अवश्य हो जाती है। अपने गुणों का ह्रास करके आत्मा असुरक्षित बन जाती है और तब आत्मा अपने ही मन, शरीर रूपी अनुचरों के सामने ही असमर्थ हो जाती है। इसी असमर्थता के द्वार से प्रवेश करती है कषायों की कुटिल वृत्तियां तथा विकारमय प्रवृत्तियां। इस दौर में आत्मानुशासन मृतप्राय हो जाता है।

ऐसी अन्धकारपूर्ण दुर्दशा के बाद जब आत्मा में सम्यक् ज्ञान का प्रकाश फैलता है तो चंडकौशिक सर्प की आत्मा के समान वह जागरण की नई करवट लेती है और अपने विकारों के सम्पूर्ण बंधनों को उखाड़ फैंकती है। जीवन में जब ऐसा स्वर्ण विहान आता है तब आत्मा अपने आत्मीय गुणों को अपना कर स्वयं को ही सुरक्षित नहीं बनाती, अपितु मन, शरीर तथा इन्द्रियों पर अपना कठोर अनुशासन भी कायम कर लेती है, अपने स्वरूप से शरीर के पृथकत्त्व को समझ जाती है तथा जड़ सम्बन्धों से सर्वथा विमुक्त बनने के सत्प्रयास प्रारम्भ कर देती है। इस तरह होता है एक जीवन का रूपान्तरण।

शास्त्रों का उद्घोष है कि "कषायमुक्ति किलरेएव मुक्ति"– अर्थात् कषायों से छुटकारा पा जाना ही यथार्थ में मोक्ष है। कषायों की कालिमा को जो आत्मा संयम एवं तप से प्रक्षालित कर लेती है, वही अपने स्वरूप को निर्मल और उज्ज्वल बनाती है। आज के इस जटिल युग में कषायों के आत्मघाती रूप की गहराई से समझ कर उनसे मुक्ति के उपाय करने चाहिए।

# काम, क्रोध का निष्कासन

यह भगवान का वचन है कि "एक्का मणुस्स जाई" अर्थात् समग्र मनुष्य जाति एक है। यह वचन बहुत ही मार्मिक है और मननीय है। संसार के सभी मनुष्य जाति की दृष्टि से एक हैं और सब एक हैं तो उनके हित भी एक हैं तथा अहित भी। हिताहित की यह संयुक्तता ही सामाजिकता का बोध कराती है। इसी दृष्टि से व्यक्ति के व्यक्तिगत हिताहित का सम्बन्ध ही सामाजिक हिताहित से जुड़ जाता है। एक व्यक्ति अपना हित देखता है तो उसमें समाज का हित भी छिपा रहता है तथा एक व्यक्ति का अहित सारे समाज के अहित को भड़काता है। निष्कर्ष यह कि व्यक्ति और समाज के हितों में परस्पर एक सुन्दर सन्तुलन होना चाहिये जिससे कि व्यापक अहित को रोका जा सके।

इसी परिप्रेक्ष्य में कषाय के सर्जन और विसर्जन के तथ्य को देखा जाना चाहिए। व्यक्ति के मन में कषाय का सर्जन प्रत्यक्ष रूप से एक व्यक्ति का निजी मामला दिखाई देता है किन्तु यह अधिकांशतः समाज व्यवस्था के कई परोक्ष दबावों के कारण भी होता है और इस विचार से कषाय विसर्जन के कार्य में व्यक्तिगत प्रयासों के साथ सामाजिक प्रयत्नों की भी अपेक्षा रहती है। इस विषय को जरा स्पष्टता के साथ समझिये।

कल्पना करें कि एक व्यक्ति एक ऐसे हरे भरे वन प्रान्त में रहता है जहां किसी दूसरे व्यक्ति का आवागमन नहीं होता किन्तु उसके खाने पीने की समस्या भी नहीं रहती। वहां उसे सामान्य रूप से किसी असुविधा का सामना नहीं करना पड़ता तो ऐसी परिस्थिति में उसके किसी कषाय भाव के उभरने का अवसर भी मुश्किल से ही आवेगा और विषय भाव के भी। प्रकृति के पवित्र वातावरण में मन निर्विकार और शुद्ध रहेगा। किस पर वह क्रोध करे और क्यों

करे ? मान भी वह किसे दिखावे–उसका अपना वहां पर क्या होता है ? किसके विरुद्ध वह माया का चक्र चलावे और किसके लिये लोभ करे ? विषय वासना का अंधड़ भी उसके मन में भला क्यों उठेगा ? और कहीं कोई विकार आया भी तो उससे प्रभावित भी वही होगा।

दूसरी ओर एक व्यक्ति बस्ती, ग्राम या नगर में रहता है–अपने निर्वाह के लिये वह अन्य कई व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है। आपसी हितों का कहीं टकराव भी होता है तो स्वभाव का संघर्ष भी। कषायगत या विषयगत किसी भी विकार की जकड़ में वह अनायास ही आ जाता है। कई बार कोई व्यक्ति दृढ़तापूर्वक विकार के असर से बचना चाहता है किन्तु सामाजिक व्यवस्था यदि दोषपूर्ण होती है तो वह बचता–बचता भी विकारों की चपेट में आ ही जाता है–काजर की कोठरी में एक लीक लागि है पे लागि है। जैसे कोई अपना वाहन बड़ी कुशलता से चलाता हुआ सड़क पर जाता है और दुर्घटना घट जाती है। उसने कहीं भी भूल नहीं की, लेकिन दूसरे वाहन वाले की भूल से दुर्घटना घट गई और उसका परिणाम उसे भी भुगतना पड़ा जिसने कोई भूल नहीं की। ऐसा ही सामूहिक व्यवस्था का प्रभाव सभी क्षेत्रों में दृष्टिगत हो सकता है। इस प्रकार कषायों के सर्जन में व्यक्ति और समाज दोनों के प्रभाव काम करते हैं तो उसके विसर्जन में भी दोनों के प्रभाव का सदुपयोग किया जाना चाहिए।

### समाज के सम धरातल पर व्यक्ति सुदृढ़ पांव चलें

इस रूप में कषायों के विसर्जन के बारे में सक्रियता से सोचा जाना चाहिये जिसका लक्ष्य यह हो कि समाज का धरातल ऐसा समतल हो कि व्यक्ति के सुदृढ़ पांव उस पर स्थिरता और गति से चल सकें। व्यक्ति के पांव कितने ही सुदृढ़ हों किन्तु समाज का धरातल बेहद ऊबड़–खाबड़ व कंकरीला–कंटीला हो तो वैसे पांव भी थक कर लड़खड़ा सकते हैं या कि थम और गिर सकते हैं। दूसरी ओर समाज का धरातल समतल और साफ हो तो व्यक्ति के कुछ कमजोर पांव भी धीरे–धीरे जम सकते हैं और सुखपूर्वक मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं। समाज में रहने पर समाज और व्यक्ति के हिताहित एवं तज्जन्य प्रभाव की संयुक्तता को भली विधि से समझने की तथा तदनुसार सामाजिक एवं राजकीय व्यवस्था को सन्तुलित व सुगठित बनाने की आवश्यकता होती है। व्यक्ति की स्वच्छंदता समाज के अनुशासन के नीचे आने पर ही स्वतन्त्रता के रूप में परिणित होती है।

कषाय के सर्जन के विषय में यदि सामाजिक एवं राजकीय व्यवस्था सुचारु होती है तथा सभी व्यक्तियों के जीवन स्तर में सामान्य रूप से समानता होती है तो क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय के उभरने के बहुत कम अवसर बचते हैं और यदि सद्भाव, सहानुभूति तथा सहयोग का पारस्परिक वातावरण मजबूत बनता जाय तो वे अवसर भी समाप्त होते जाते हैं। इसके विपरीत समाज में राजनीतिक व्यवस्था विश्रृंखल हो, आर्थिक परिस्थितियां अति विषम हों एवं सामाजिक वातावरण दंभ और आडम्बर से भरा हुआ हो तो अपनी वृत्तियों का शमन करते-करते भी कषायों के उभरने के पग पग पर मौके खड़े हो जाते हैं। समाज में रहन सहन का समग्र वातावरण भी यदि संयम पर आधारित न हो तो विषय भोगों का ज्वार भी थामे नहीं थमता है।

कषाय के विसर्जन की समस्या भी इसी प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों के क्षेत्राधिकार में रहती है। व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति हो और समाज की व्यवस्था समानता और संयम पर आधारित हो तो विसर्जन सरल और सुसाध्य बन जाय। मानव जाति के एकीकृत हिताहित प्रभावों से कषाय का विकारपूर्ण असर एक व्यक्ति से धीमी प्रक्रिया से ही सही-सभी व्यक्तियों तक पहुंचता है और सभी व्यक्तियों के सामूहिक असर से एक व्यक्ति भी प्रभावित बनता है। अतः प्रयत्नों के संदर्भ में कषायों के विसर्जन की दिशा स्पष्ट हो जानी चाहिए।

## आत्मा को आराधें, मन को साधें

यह सत्य है कि व्यक्तिनिष्ठ प्रयत्न अधिक सरलता और सुघड़ता से सफल बनाये जा सकते हैं। इसका श्रेयकारी मार्ग है आध्यात्मिकता का मार्ग-आत्मा की आराधना का मार्ग। अपने आत्मस्वरूप पर चिन्तन करें, आत्म शक्तियों को सक्रिय बनावें तथा अपने जीवन के समस्त विचार व व्यवहार में आत्मा की आराधना से ही मन को साधने की सफल विधि का ज्ञान होता है। मन जो बाहर के नश्वर सुखों की तरफ भागता है और इन्द्रियों की गति को भी उनके लिये भ्रष्ट बनाता है, यदि आत्मनियंत्रण में आ जाय तो वही आत्म-विकास की एक प्रबल सहायक शक्ति बन जाता है।

इसलिये व्यक्ति इस मूलमंत्र को जीवन में आचरित करले कि आत्मा को आराधें और मन को साधें। इस विधि से विकार व्यवहार में टिक नहीं सकेंगे तथा विषय कषाय के भाव भी मन्द होते जायेंगे। जीवन उन सद्गुणों से मंडित होने लगेगा जो आत्मा को निर्विकार बनाते हैं तथा शरीर को धर्म साधना का श्रेष्ठ साधन।

कषायों का विश्लेषण करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखें कि काम, क्रोध आदि कषाय कुत्ते के समान हैं। इन्हें पहले तो घर में घुसने ही नहीं देना चाहिये किन्तु कदाचित् घुस जाय तो उसी समय बाहर निकाल देना चाहिये। स्वभाव में यदि ऐसी दृढ़ता रखें तो काम, क्रोध आदि विकार भीतर घुसकर अन्तःकरण को बिगाड़े ही नहीं और असावधानी से कषाय की कभी कमजोरी आ भी जाय तो तुरन्त ही उसे हटाकर स्वभाव का सन्तुलन साध लें। कषाय विसर्जन के लिये स्वभाव की सुदृढ़ता की ही सर्वाधिक आवश्यकता होती है।

## महाबली मोह का पुत्र–काम

अष्ट कर्म समूह में सबसे अधिक ताकत और असर वाला कर्म मोहनीय कर्म होता है। इस की शक्ति का इस तथ्य से अनुमान लग सकता है कि यदि अकेले मोहनीय कर्म को एक साधक जीत ले तो शेष कर्मों को जीतना हंसी खेल का काम ही रह जाता है। विशाल वृक्ष की जड़ें उखड़ जायं तो उसकी शाखा प्रशाखाएं या फूल–फल–पत्ते अपने आप ही सूख जाते हैं–इसके लिये किसी प्रयास की जरूरत नहीं रहती है। ऐसे महाबली मोह का पुत्र होता है काम। जितना प्रबल मोह, उतनी प्रबल कामान्धता। जितनी प्रबल कामान्धता, उतना ही प्रबल अविचार, कुविचार और अनाचार–अत्याचार।

काम का वेग मन और इन्द्रियों को उन्मत्त बना देता है और आत्मा को मूर्छित। सच पूछें "मूढाः नराः कामपराः हवन्ति" अर्थात् अपनी बुद्धि और सारी सूझबूझ खोकर ही मनुष्य कामोत्तेजना के तूफान में फंसता है। काम की क्या परिभाषा ? कहा है–"मोहोदयाभिभूतैः सत्त्वैः शब्दरसरूपगंधस्पर्शाः इति कामाः" अर्थात् मोह के उदय से जब आत्मा पराभूत हो जाती है और शब्द, रस, रूप, गंध व स्पर्श के ऐन्द्रिक सुखों में विमोहित बन जाती है, उसी प्रभाव और भोग को काम कहते हैं। "कामः स्त्रीगतो अभिलाषः" होता है जो वैचारिक दशा में घुलता गहराता हुआ मैथुनिक रूप में क्रियान्वित होता है।

काम की स्वाभाविकता या अस्वाभाविकता के विषय पर भी कुछ चर्चा आवश्यक है। कुछ आधुनिक मनोविज्ञान वेत्ताओं का जिसमें फ्रायड का यह मानना है कि काम इस जीवन का एक स्वाभाविक अंग है तथा मनुष्य की प्रत्येक वृत्ति या प्रवृत्ति में काम का व्यक्त अथवा अव्यक्त प्रभाव बना रहता है। परन्तु फ्रायड के शिष्य युंग का इस से विपरीत ही मानना है। यह एक अलग विषय है। हमारी दार्शनिकता तथा आध्यात्मिकता इस मान्यता से सहमत नहीं है। काम निश्चित रूप से इस शरीर का विषय होता है तथा काम को

स्वाभाविक वे ही मान सकते हैं जिनकी विचार दृष्टि शरीर तक सीमित है। किन्तु जिनकी आत्मा की अपार शक्तियों में आस्था होती है, वे शरीर संचालन को आत्माधिकार का कार्य मानते हैं और विश्वास रखते हैं कि सशक्त बनाकर शरीर पर ऐसा नियंत्रण संयम की सहायता से साधा जा सकता है कि काम भावपूर्ण रूप से उपशमित हो जाय या उसका क्षय ही हो जाय। अतः काम भाव पर आत्म विजय संभव है और ऐसा पुरुषार्थ आचरणीय है जो आत्मा और शरीर के पृथकत्त्व को अन्तःकरणपूर्वक समझ लेता है, वह काम और कामनाओं पर अंकुश लगाने के सत्य को भी समझ लेता है।

काम–मोह की अंधता को जितने अंशों में घटा और मिटा पायेंगे, उतने ही अंशों में अन्य कर्मो का उपशम और क्षय भी सम्भव बन सकेगा तथा जीवन की गति भी निर्विकार और निर्मल बन सकेगी।

## काम का कलमुंहा पुत्र है क्रोध

"कामात् जायते क्रोध" अर्थात् काम से क्रोध उत्पन्न होता है तथा क्रोध से एक एक करके अनेकानेक विकार–दुर्गुण अपनी काली छाया में सम्पूर्ण जीवन के विचार और व्यवहार को घेर लेते हैं तथा उन्हें कलंकित कर देते हैं। क्रोध उसे कहते हैं जो ज्वाला बनकर आत्मस्वरूप और आत्मा के चरित्र को जला डालता है– "उक्कस्सं जलणणूयं मज्झत्थं च विगिंचए।" इसी कारण "कोहाभिभूया न सुहं लहंति" अर्थात् क्रोध से पराजित व्यक्ति कभी भी सुख का अनुभव नहीं करते हैं। क्रोध एक पागलपन लाता है–व्यक्ति के मन मानस में ऐसा विष फैला देता है कि वह शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक रूप से क्षत–विक्षत हो जाता है।

वस्तुतः क्रोधाग्नि आत्म–दाहक भी होती है तो पर–दाहक भी। क्रोधी अपने गुणों को ही नहीं जलाता, अपंने रक्त को भी जलाता है तथा अपने क्रोधी स्वभाव और व्यवहार से दूसरे लोगों को भी बुरी तरह से जलाता है। सबसे ज्यादा बुरी बात तो यह होती है कि क्रोधी की क्रिया से क्रिया और प्रतिक्रिया की जटिल श्रृंखला बन जाती है जिसका अन्त कठिनता से ही आता है। यह श्रृंखला कितनी अनीति, अत्याचार, कदाचार और पापपूर्ण हिंसा तक पहुंच सकती है, उस पतन की संभवतः सीमा नहीं है।

क्रोध भड़कने के कई कारणों में से ये कारण हो सकते हैं, अतः इन्हें समझकर निरुद्ध करने का उपक्रम किया जाना चाहिए (1) स्वयं द्वारा अथवा दूसरों के द्वारा कहे गये दुर्वचन की चोट से। (2) स्वार्थपूर्ति में किसी के

बाधा पैदा किये जाने से अथवा अपने स्वार्थो पर कुठाराघात होने से। (3) मोह और राग की प्रबलता में अपनी प्राप्त सत्ता सम्पत्ति के लिये खतरा दिखाई देने से। (4) दूसरों के अनुचित, अशिष्ट तथा अपमानजनक व्यवहार से (5) वास्तविक स्थिति का सही ज्ञान न होने या न करने से भ्रम की मानसिकता में (6) विषमता के व्यवहार से अथवा रुचि भेद से। (7) विचार या मान्यताओं के भेद से। यह क्रोधोत्पत्ति चार प्रकार से हो सकती है (1) अपने भीतर ही क्रोध उठे और भीतर ही दबा हुआ रह जाय–ऐसे क्रोध को आत्म प्रतिष्ठित कहते हैं। (2) कोध का निशाना दूसरों पर जाकर लगे और उनमें जम जाय–वह पर–प्रतिष्ठित होता है। (3) अपने और दूसरों में व्याप्त होने से वह तदुभय प्रतिष्ठित बनता है, तथा (4) बिना किसी निमित्त से क्रोध के उत्पन्न हो जाने को अप्रतिष्ठित क्रोध कहते हैं। क्रोध की दशा में जो अन्य विकार अन्तःकरण को कलुषित बनाते हैं, उनमें से कुछ मुख्य होते हैं–दुस्साहस की वृत्ति, चुगली व पर निन्दा, वैर और प्रतिशोध की तीव्रता, ईर्ष्या तथा जलना, पराये दोषों को राई से पर्वत बनाना, कठोर वचन कहने की आदत, क्रूर व्यवहार की क्रिया, आर्त्त व रौद्र ध्यान का सेवन आदि।

उमड़ते–घुमड़ते हुए क्रोध को विफल बनाने तथा स्थाई रूप से उसका शमन करने के लिये इन उपायों का अभ्यास करना चाहिये– (1) क्रोध उभरते ही एकान्त में चले जावें। (2) मौन धारण कर किसी रचनात्मक कार्य में लग जावें। (3) श्वसन क्रिया के निरोध की प्रक्रिया से भी क्रोध को मन्द किया जा सकता है। (4) क्रोध को समाप्त करने के पूर्व संकल्प का बारम्बार स्मरण किया जाय। (5) प्रति दिन प्रतिज्ञा का स्मरण किया जाय तथा जब भी इसके विरुद्ध किसी पर क्रोध भड़के तो उसका स्वनियोजित दण्ड ग्रहण किया जाय। (6) क्रोध के समय मन और कार्य की दिशा परिवर्तित कर दी जाय। एवं (7) पंच परमेष्ठी का ध्यान किया जाय।

## काम क्रोध के उत्पाद और इनका निष्कासन

काम, क्रोध आदि कषाय के स्वरूप और प्रभाव–परिणाम को जान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कितनी बार जानकर या अनजाने में इन विकारों की जकड़ में फंस जाते हैं और उस परतंत्रता को महसूस भी नहीं करते हैं। किन्तु जब आत्मा की ज्ञान दशा उन्नत होती है तो उस जकड़ की तरफ उसकी दृष्टि जाती है। तब उसे अपना अपराध–बोध भी होता है। यह अपराध–बोध उस की जागृति का कारण बनता है। तब वैसी जागृत बनती हुई

आत्मा काम, क्रोध आदि कषायों व विषयों के अपने चारित्र में होते हुए उत्पात को देखती और अनुभव करती है। उस उत्पात से वह घबराती है तथा उसे समाप्त करने को संकल्पबद्ध बनती है। यह संकल्प ही उसे शक्तिशाली तथा पुरुषार्थी बनाता है कि वह काम, क्रोध आदि विकारों को झाड़ पौंछकर आत्मा के आंगन से बाहर फैंक दे और उन्हें फिर से भीतर न आने दे।

काम, क्रोध आदि विषय कषाय रूप विकारों का इस जीवन से निष्कासन समझिये कि एक दुःसाध्य कार्य होता है जिसे सम्पन्न करने के लिए अखूट आत्म विश्वास, सतत् पुरुषार्थ–प्रयोग एवं समत्त्व योग की सक्षमता का सद्भाव पूर्वक विकास किया जाना चाहिए।

## विकार मुक्ति से आत्म शुद्धि

जब घर–आंगन का एक दिन में इकट्ठा हुआ कचरा भी सहन नहीं किया जाता है तो आत्मा के इस आंगन में विकारों, मैल और अशुभ कर्मबद्ध के ढेर लग रहे हैं, तब भी सफाई और शुद्धि की तरफ लगन और सक्रियता क्यों नहीं पैदा होती है ? शरीर को साफ रखना चाहें और आत्मा की अशुद्धि को आंख बन्द करके सहन करें–यह शोभाजनक वृत्ति नहीं है। सबसे पहले आत्म शुद्धि का खयाल आना चाहिए और विकारों से मुक्ति पाने का कठिनतम प्रयास होना चाहिए।

# लाभ, लोभ और पाप की होड़

चक्रवर्ती भरत महाराज छः खंड के अधिपति और अपार ऋद्धि–सिद्धि के स्वामी थे। किन्तु कहा जाता है कि उन्हें अपनी सम्पत्ति एवं अपने ऐश्वर्य के प्रति मोह की मन्दता थी। एक दिन दर्पण के सामने खड़े खड़े वे वस्त्राभूषण धारण कर रहे थे। जब वे पूर्णतया सज्जित होकर अपना रूप स्वरूप देख रहे थे, तभी उनकी एक अंगुली में से निकल कर अंगूठी नीचे गिर पड़ी। वह खाली अंगुली उन्हें शोभाहीन सी लगी। वे विचार करने लगे कि चाहे अंगुली की हो या सारे शरीर की—यह शोभा तो आभूषणों के आश्रित है। ऐसी शोभा फिर क्या शोभा है ? वे एक–एक आभूषण उतारते रहे और दर्पण में देखते रहे। और उनकी दृष्टि शरीर की शोभा से हट कर ज्ञानमयी बनती रही और आत्मीय शोभा को देखती रही। देखती क्या रही, देखते–देखते ही वह आत्मीय शोभामय बन गई।

और दर्पण के सामने ही चक्रवर्ती भरत ने आत्म–विकास की समूची यात्रा सम्पूर्ण कर ली। उन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति हो गई। सत्ता और सम्पत्ति के साथ कितना मोह बंधन हो एक सद्‌गृहस्थ का, भरत महाराज उसके मापदण्ड हैं। आत्मा को मूर्छित बनाने वाले सारे जड़ तत्त्वों के प्रति यथोचित उपयोग का मोह ही क्षम्य हो सकता है। इससे अधिक मोह एक सद्‌गृहस्थ और एक सौम्य नागरिक को अपनी सत्ता और सम्पत्ति के प्रति नहीं होना चाहिए। उपयोग का मोह भी ऐसा और इतना कि आवश्यकता पूर्ति के साथ वह छूट जाय तथा जब सकल मोह को छोड़ने का निर्णय ले लें तो सारी सत्ता–सम्पत्ति को नाक के श्लेष्म की तरह सींक कर बाहर फैंक दें।

जब भगवान महावीर ने पदार्थों को नहीं, उनके प्रति आत्मभावों में व्याप्त होने वाली मोह–मूर्छा को परिग्रह कहा है तो क्या आपने भरत महाराजा

के मापदण्ड पर कभी सोचा है या कि सोचने की चेष्टा तक की है ? गृहस्थाश्रम में रहने वाले एक व्यक्ति के लिए धन की आवश्यकता पग–पग पर पड़ती है। साधु अगर अपने पास धन रखे तो तीन कौड़ी का, मगर एक गृहस्थ के पास धन न हो तो वह इस संसार में तीन कौड़ी का कहलाता है– यह इसी वजह से कि हर काम के लिए धन की जरूरत पड़ती है। ऐसे आवश्यक धन को पैर के जूते की उपमा दी जा सकती है। जैसे कि अभ्यास न होने से एक गृहस्थ खुले पैर बाहर चलने–फिरने में कष्ट अनुभव करता है, वैसे ही धनाभाव कष्ट देने वाला होता है। उपयोग का मोह सिर्फ जूते की सीमा तक रहना चाहिये। लेकिन यदि कोई उस जूते को पैर में पहिनने की बजाय सिर पर बांध ले तो उसको आप क्या कहेंगे ? यही कि वह पागल हो गया है। लेकिन क्या आप लोग कभी देखते हैं कि कहीं ऐसा ही पागलपन आप लोगों में से किन्हीं के मन में भी तो नहीं समा रहा है ? क्या वे जूते को सिर पर बांध कर भी गरूर के साथ सब ओर नहीं घूम रहे हैं ? जब समाज में धन को उसकी पात्रता से अधिक सम्मान और स्थान दे दिया जाता है तो पागलपन के ऐसे ही दृश्य दिखाई देते हैं, क्योंकि ऐसे पागलपन और ऐसी मूर्छा का नाम ही तो परिग्रह है और परिग्रह महापाप का हेतु होता है।

मनुष्य के मन में धन, सम्पत्ति, पद, अधिकार, सत्ता या भोग्य सामग्री के प्रति जो ऐसी मूर्छा होती है वह उसकी तृष्णा का दुष्परिणाम होता है। इच्छाओं का कभी अन्त नहीं होता और उन इच्छाओं की लालसा में भड़की हुई तृष्णा भी अन्तहीन होती है।

## चेतना का जड़त्व की ओर झुकाव

यह परिग्रह वृत्ति या कि मूर्छा ही आत्मा की चेतना शक्ति को जड़ बनाकर उसे निर्वीर्य और निष्क्रिय बना देती है। चेतना शक्ति जितनी ज्यादा जड़ तत्त्वों के प्रति आकर्षित और आसक्त बनती है, उतनी ही ज्यादा उसकी जड़ग्रस्तता जटिल होती जाती है। जड़ के साथ सम्बद्ध होने पर जड़ग्रस्तता ही तो बढ़ेगी। यह बढ़ती हुई जड़ग्रस्तता ही आत्मा को अपने स्वरूप से पतित बनाती रहती है।

आत्मा जड़ग्रस्त है, इसीलिये तो संसार के जन्म–मरण के चक्र में भ्रमित हो रही है। इसकी मूल जड़ग्रस्तता कर्म समूह के साथ सम्बद्धता है जिसके फलस्वरूप ही आत्मा नये–नये जीवन में अवतरित होती है और नये–नये प्रकार के शरीर प्राप्त करती है। किसी एक जीवन में आत्मा की

# लाभ, लोभ और पाप की होड़

चक्रवर्ती भरत महाराज छः खंड के अधिपति और अपार ऋद्धि–सिद्धि के स्वामी थे। किन्तु कहा जाता है कि उन्हें अपनी सम्पत्ति एवं अपने ऐश्वर्य के प्रति मोह की मन्दता थी। एक दिन दर्पण के सामने खड़े खड़े वे वस्त्राभूषण धारण कर रहे थे। जब वे पूर्णतया सज्जित होकर अपना रूप स्वरूप देख रहे थे, तभी उनकी एक अंगुली में से निकल कर अंगूठी नीचे गिर पड़ी। वह खाली अंगुली उन्हें शोभाहीन सी लगी। वे विचार करने लगे कि चाहे अंगुली की हो या सारे शरीर की—यह शोभा तो आभूषणों के आश्रित है। ऐसी शोभा फिर क्या शोभा है ? वे एक–एक आभूषण उतारते रहे और दर्पण में देखते रहे। और उनकी दृष्टि शरीर की शोभा से हट कर ज्ञानमयी बनती रही और आत्मीय शोभा को देखती रही। देखती क्या रही, देखते–देखते ही वह आत्मीय शोभामय बन गई।

और दर्पण के सामने ही चक्रवर्ती भरत ने आत्म–विकास की समूची यात्रा सम्पूर्ण कर ली। उन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति हो गई। सत्ता और सम्पत्ति के साथ कितना मोह बंधन हो एक सद्गृहस्थ का, भरत महाराज उसके मापदण्ड हैं। आत्मा को मूर्छित बनाने वाले सारे जड़ तत्त्वों के प्रति यथोचित उपयोग का मोह ही क्षम्य हो सकता है। इससे अधिक मोह एक सद्गृहस्थ और एक सौम्य नागरिक को अपनी सत्ता और सम्पत्ति के प्रति नहीं होना चाहिए। उपयोग का मोह भी ऐसा और इतना कि आवश्यकता पूर्ति के साथ वह छूट जाय तथा जब सकल मोह को छोड़ने का निर्णय ले लें तो सारी सत्ता–सम्पत्ति को नाक के श्लेष्म की तरह सींक कर बाहर फैंक दें।

जब भगवान महावीर ने पदार्थों को नहीं, उनके प्रति आत्मभावों में व्याप्त होने वाली मोह–मूर्छा को परिग्रह कहा है तो क्या आपने भरत महाराजा

के मापदण्ड पर कभी सोचा है या कि सोचने की चेष्टा तक की है ? गृहस्थाश्रम में रहने वाले एक व्यक्ति के लिए धन की आवश्यकता पग–पग पर पड़ती है। साधु अगर अपने पास धन रखे तो तीन कौड़ी का, मगर एक गृहस्थ के पास धन न हो तो वह इस संसार में तीन कौड़ी का कहलाता है– यह इसी वजह से कि हर काम के लिए धन की जरूरत पड़ती है। ऐसे आवश्यक धन को पैर के जूते की उपमा दी जा सकती है। जैसे कि अभ्यास न होने से एक गृहस्थ खुले पैर बाहर चलने–फिरने में कष्ट अनुभव करता है, वैसे ही धनाभाव कष्ट देने वाला होता है। उपयोग का मोह सिर्फ जूते की सीमा तक रहना चाहिये। लेकिन यदि कोई उस जूते को पैर में पहिनने की बजाय सिर पर बांध ले तो उसको आप क्या कहेंगे ? यही कि वह पागल हो गया है। लेकिन क्या आप लोग कभी देखते हैं कि कहीं ऐसा ही पागलपन आप लोगों में से किन्हीं के मन में भी तो नहीं समा रहा है ? क्या वे जूते को सिर पर बांध कर भी गरूर के साथ सब ओर नहीं घूम रहे हैं ? जब समाज में धन को उसकी पात्रता से अधिक सम्मान और स्थान दे दिया जाता है तो पागलपन के ऐसे ही दृश्य दिखाई देते हैं, क्योंकि ऐसे पागलपन और ऐसी मूर्छा का नाम ही तो परिग्रह है और परिग्रह महापाप का हेतु होता है।

मनुष्य के मन में धन, सम्पत्ति, पद, अधिकार, सत्ता या भोग्य सामग्री के प्रति जो ऐसी मूर्छा होती है वह उसकी तृष्णा का दुष्परिणाम होता है। इच्छाओं का कभी अन्त नहीं होता और उन इच्छाओं की लालसा में भड़की हुई तृष्णा भी अन्तहीन होती है।

## चेतना का जड़त्व की ओर झुकाव

यह परिग्रह वृत्ति या कि मूर्छा ही आत्मा की चेतना शक्ति को जड़ बनाकर उसे निर्वीर्य और निष्क्रिय बना देती है। चेतना शक्ति जितनी ज्यादा जड़ तत्त्वों के प्रति आकर्षित और आसक्त बनती है, उतनी ही ज्यादा उसकी जड़ग्रस्तता जटिल होती जाती है। जड़ के साथ सम्बद्ध होने पर जड़ग्रस्तता ही तो बढ़ेगी। यह बढ़ती हुई जड़ग्रस्तता ही आत्मा को अपने स्वरूप से पतित बनाती रहती है।

आत्मा जड़ग्रस्त है, इसीलिये तो संसार के जन्म–मरण के चक्र में भ्रमित हो रही है। इसकी मूल जड़ग्रस्तता कर्म समूह के साथ सम्बद्धता है जिसके फलस्वरूप ही आत्मा नये–नये जीवन में अवतरित होती है और नये–नये प्रकार के शरीर प्राप्त करती है। किसी एक जीवन में आत्मा की

पहली जड़ग्रस्तता उसके प्राप्त शरीर के साथ जुड़ती है। जड़ से जुड़ने का पहला परिणाम तो यही होगा कि उसका आकर्षण जड़ की तरफ बढ़े। इसलिए जीवन में इन्द्रियों के भोग–विषयों के प्रति वह आकर्षण गहरा होने लगता है। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श से सम्बन्धित भोग्य सामग्री की कामना प्रबल बनती है और इस प्रकार यदि प्रारम्भ से ही ज्ञान का अंकुश न रखा जाय तो चेतना शक्ति की जड़ग्रस्तता भीषण रूप ले लेती है।

जड़ग्रस्तता का ऐसा भीषण रूप ही तो आज भयावह बना हुआ है। सब ओर जैसे तृष्णा का ज्वार उमड़ा हुआ है, इच्छाओं की होड़ लगी हुई है, स्वार्थ पूर्ति का अंधड़ चल रहा है, सत्ता और सम्पत्ति की आपाधापी मची हुई है और अनैतिकता, अन्याय, अत्याचार तथा अनाचार का पाप बढ़ रहा है। इस पागलपन की दौड़ में कोई यह नहीं सोचना चाहता कि आखिर जड़ तत्त्वों के प्रति ऐसी मूर्छा का क्या अर्थ है या कि इस जड़ग्रस्तता से कितनी और कैसी आत्म–हानि हो रही है ?

इस जड़ग्रस्तता का मूल बिन्दु है लोभ, जो लाभ के साथ बढ़ता रहता है, लालसाओं के नये–नये जाल बिछाता रहता है और आत्मा को उनमें अधिक से अधिक उलझाता चला जाता है। लोभ कषाय का मूल है तो आत्म पतन का भी।

## लोभ से लाभ और लाभ से लोभ

गौतम कुलक में कहा गया है कि "लुद्धा नरा अत्थपरा हवन्ति।" अर्थात् लोभी व्यक्ति अर्थ (धन) परायण होते हैं। उनकी मनोवृत्तियों में तीन बातें ही घूमती रहती हैं कि कैसे वे संसार में रहा हुआ सारा का सारा धन अपने अधिकार में कर लें, कैसे उसका संग्रह करके अपने पास उसे हमेशा–हमेशा के लिय बनाये रखें तथा कैसे अपने ही स्वार्थ अन्य सब लोगों के हितों व स्वार्थो से ऊपर रहें और उनकी इच्छाओं के अनुसार पूरे होते रहे। लोभी व्यक्ति की अर्थ–लिप्सा का कोई पार नहीं होता है लेकिन उसकी एक विचित्र स्थिति होती है कि धन उसके अधिकार में नहीं होता बल्कि वह खुद धन के अधिकार में होता है। वस्तुतः वह धन का स्वामी नहीं, धन का दास होता है।

लोभी का धन–लोभ भी निर्मम और क्रूर होता है। चाहे निकटस्थ सम्बन्धी हो या घनिष्ठ मित्र उसके लोभ के आड़े वे भी आ जायं तो उन्हें भी वह नहीं बक्शता है। और तो और, लोभ लालसा में भटकते हुये उसे न तो अपने ही स्वास्थ्य का ध्यान रहता है और न अपनी सुख–सुविधा का। लोभ का

आवेग तीव्र हो तो वह अपनी जान भी दे देता है। एक लोभी व्यक्ति का सदा रौद्र ध्यान ही चलता रहता है और मायावी बनकर वह अपनी लोभ पूर्ति के प्रपंचों का जाल बुनता रहता है। वह किसी भी दुष्कर्म को हेय नहीं समझता है। चोरी उसका मुख्य कर्म हो जाता है, झूठ वह बेडर होकर बोलता है तो हर किसी के प्रति अविश्वास का दुर्भाव लेकर चलता है। वह लोभग्रस्त होकर भांति-भांति के विग्रह-विवाद उठाने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता और हिंसापूर्ण पाप कार्यों में रत रहता है।

इच्छाएं आकाश के समान अनन्त होती हैं तथा लोभी व्यक्ति इन्हीं इच्छाओं की पूर्ति के लिये जमीन आसमान एक करता रहता है। आवश्यकता का उसके सामने कोई दृष्टिकोण नहीं होता। संग्रह और संग्रह के लिये उसकी तृष्णा लगी रहती है और यह संग्रह भी सिर्फ संग्रह के लिये-सिर्फ अपने पागल मन की तृप्ति के लिये, जो त्रिकाल में भी तृप्त होता नहीं है।

लोभ के साथ लालसा दौड़ती है लाभ के लिये। बस लाभ, अधिक लाभ तथा अधिक से अधिक लाभ। लोभी के मन में नीति और न्याय का कोई मूल्य नहीं होता। वहां मानवीय सद्भाव या संवेदना का भी अस्तित्व नहीं होता है। हिंसा से मिले, क्रूरता से मिले या कुछ भी नैतिक-अनैतिक काम करके मिले, उसे धन चाहिये और धन के मोल बिकने वाली सत्ता, सम्पत्ति व भोग सामग्री चाहिये। तो लोभी को लाभ चाहिये और ज्यों-ज्यों उसे लाभ मिलता जाता है, उसका लोभ बढ़ता जाता है। लोभ से लाभ और लाभ से लोभ—यह एक अन्तहीन चक्र बन जाता है जिसमें लोभी का जीवन गोते खाता रहता है।

### लोभ, लाभ और पाप की त्रिपुटी

लोभ, लाभ और पाप की तिकड़ी इस संसार में जितने अनर्थ रचती है—शायद कोई दूसरी ताकत नहीं। आत्मा इस तिकड़ी में उलझ कर इतने काले कर्म करती और बांधती है कि जिसका फलभोग दुर्वह हो जाता है। लोभ से लाभ और लाभ से लोभ का दौर-दौरा इतनी तेजी से चलता है कि लोभ और लाभ के साथ पाप मजबूती से जुड़ जाता है तथा लोभ, लाभ व पाप की तिकड़ी बन जाती है जो एक लोभी आत्मा को ही बरबाद नहीं करती लेकिन व्यापक रूप से अपने सम्पर्कगत क्षेत्र को भी बुरी तरह से बरबाद करती है।

आप दीवाली पर लक्ष्मीजी का पूजन करते हैं न ? क्या बतायेंगे कि क्यों ? जड़ तत्त्वों के पूजन का क्या अर्थ ? यह आत्मा की जड़ग्रस्तता है और परिणामस्वरूप लोभ वृत्ति का प्रदर्शन है। तब कुंकुम से अपनी बहियों में या

दुष्परिणाम नहीं है कि वर्तमान अर्थनीति लूट की नीति बनती जा रही है और मानव समाज में विषमता की खाई चौड़ी से चौड़ी होती जा रही है ? न्याय और नीति के विचार के बिना जो अर्थोपार्जन किया जाता है, उसे उपार्जन कैसे कहें ? उसे ही लूट ही कहना पड़ेगा क्योंकि एक चोर या डाकू न्याय व नीति का विचार नहीं रखता है। ऐसी अर्थनीति के कारण समाज की अधिकाधिक सम्पत्ति चन्द हाथों में जमा होती जाती है और बहुसंख्या में लोग अभावग्रस्त बनते जाते हैं। इस निहित स्वार्थ–परता में संविभाग का सुन्दर सिद्धान्त भुला दिया जाता है। तब सारे समाज में अनीति और अनाचार फैलने लगता है। सम्पन्न वर्ग अपनी धनराशि पर इतराता है तो अभावग्रस्त वर्ग अपनी विवशता में अनीति का शिकार बनता है।

इस प्रकार लोभ एक या कुछ व्यक्तियों को ही नहीं, सम्पूर्ण समाज को नीति और न्यायविहीन बना देता है तथा मानवता के भावों एवं मूल्यों को कुचल कर रख देता है। इस भयावहता से क्या अपनी व अन्य आत्माओं को संरक्षित करने की वेला आज उपस्थित नहीं हो गई हैं ?

## धन का नहीं, गुणों का वर्चस्व

यदि लोभ, लाभ तथा पाप की होड़ मिटानी है और उसके दुष्परिणामों से आत्मा की शुद्धता बचानी है तो व्यक्ति और समाज के जीवन पर से धन के वर्चस्व को दूर करना होगा। धन पगड़ी न बने, पैर की जूती बनी रहे –ऐसी सुव्यवस्था बनानी होगी। यह सुव्यवस्था लोभ का अन्त किये बिना कायम नहीं हो सकती है। लोभ रूप कषाय जब तक मानव के मन–मस्तिष्क को रौंदता हुआ रहेगा तब तक उसकी धन, सत्ता, सम्पत्ति आदि की लालसा पर कोई अंकुश नहीं लगाया जा सकेगा। लालसा रहेगी तो लूट चलेगी और लूट चलेगी तो मानवता, सामाजिकता तथा आध्यात्मिकता की हानि होती रहेगी।

धन के स्थान पर गुणों का वर्चस्व मानना और बनाना चाहिये। ये क्रोध, मान, माया लोभ आदि के कषाय सबसे बढ़कर आत्मिक गुणों का ही विनाश करते हैं। अतः कषायों और गुणों दोनों को साथ–साथ नहीं रखा जा सकता है। या तो कषाय ही रखिये और अपनी आत्मा को पतित बनाते जाइये अथवा इस भयावह अवस्था से चेतिये और आत्मिक गुणों को अपनाइये, कषाय से मुक्ति पाइये तथा धन के वर्चस्व को हटाकर गुणों के वर्चस्व को माथे पर चढ़ाइये। यहां तो गुणों के आगे व्यक्ति को भी कम महत्त्व दिया गया है और गुणात्मक श्रेष्ठता का ही सर्व पूजित रखा गया है, फिर गुणों का वर्चस्व बढ़ाने में हिचक क्यों ?

दूकान, मकान के दरवाजों पर दो शब्द भी लिखा करते हैं। ध्यान है कि क्या लिखते हैं लाभ–शुभ या शुभ–लाभ। अधिकतर लाभ–शुभ लिखते हैं, जिसका अर्थ होता है कि जितना लाभ हो वह शुभ है–मुख्य बात लाभ है। यह लोभवृत्ति का परिचायक है। विचार करें तो लिखा जाना चाहिये–शुभ–लाभ अर्थात् वही लाभ ग्राह्य होगा जो शुभ हो। शुभ लाभ कौन–सा ? वह लाभ जो न्याय से, नीति से और सदाचार से अर्जित किया जाय। आप गम्भीरता से सोचें और अपने मन की थाह लें कि आपको हकीकत में शुभ–लाभ पसन्द पड़ता है अथवा लाभ–शुभ ? इसका अर्थ है कि आप अपनी परिग्रह वृत्ति की उद्दंडता को मापें और लोभ, लाभ व पाप की तिकड़ी द्वारा आपके जीवन में किये जा रहे कुकृत्यों का लेखा–जोखा लें। कहा गया है कि लोभी व्यक्ति को मेरु पर्वत जितना विपुल स्वर्ण भी मिल जाय, तब भी उसे सन्तोष नहीं मिलता है। जब तक लोभ है तब तक वहां पर सन्तोष का संचार कठिन ही बना रहता है।

लोभ का कहीं अन्त ही नहीं होता, ज्यों–ज्यों धन बढ़ता है, त्यों–त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है और ज्यों–ज्यों लोभ बढ़ता जाता है त्यों–त्यों पाप बढ़ता जाता है।

## मानवता पर सत्ता और पूंजी की जकड़

अतिशय लोभ वृत्ति ने सत्ता, पूंजी आदि के जड़ तत्त्वों एवं दुर्भावों को इतना ऊंचा उठा दिया है कि मानवता का भाव नीचे से नीचे गिर गया है। सत्ता और पूंजी की जकड़ इतनी जटिल और कुटिल बन गई है कि उसमें बंधकर मानवता कुचली जा रही है–तड़प रही है। अपना सच्चा ज्ञान, हिताहित और विकास भुला दिया गया है और येनकेन प्रकारेण सत्ता और पूंजी को पा लेना इस अमूल्य जीवन का निकृष्ट ध्येय बना लिया गया है–समग्र वातावरण को देखकर ऐसा प्रतीत होता है। सत्ता और पूंजी पाने की अंधी दौड़ में अन्तःकरण की संवेदना व करुणा बिसर गई है, सहकार व सहयोग के हाथ टूट गये हैं तथा त्याग और बलिदान की भावना मर गई है। आदमी जैसे भूखा भेड़िया हो गया है और सब कुछ अपने ही लिए हड़प लेना चाहता है। उसने जड़ को चेतना शक्ति के माथे पर बिठा दिया है और अपने आपको जड़ के पैरों में पटक दिया है। फिर कहां रहेगा मानवता का विचार और मानवता का सौहार्द्र, सहयोग और प्रेम ? मानवता तो सत्ता और पूंजी की जकड़ में जैसे बेहोश होकर हाहाकार कर रही है।

लोभ से लाभ और लाभ से लोभ की दुष्प्रवृत्ति का ही क्या यह

दुष्परिणाम नहीं है कि वर्तमान अर्थनीति लूट की नीति बनती जा रही है और मानव समाज में विषमता की खाई चौड़ी से चौड़ी होती जा रही है ? न्याय और नीति के विचार के बिना जो अर्थोपार्जन किया जाता है, उसे उपार्जन कैसे कहें ? उसे ही लूट ही कहना पड़ेगा क्योंकि एक चोर या डाकू न्याय व नीति का विचार नहीं रखता है। ऐसी अर्थनीति के कारण समाज की अधिकाधिक सम्पत्ति चन्द हाथों में जमा होती जाती है और बहुसंख्या में लोग अभावग्रस्त बनते जाते हैं। इस निहित स्वार्थ–परता में संविभाग का सुन्दर सिद्धान्त भुला दिया जाता है। तब सारे समाज में अनीति और अनाचार फैलने लगता है। सम्पन्न वर्ग अपनी धनराशि पर इतराता है तो अभावग्रस्त वर्ग अपनी विवशता में अनीति का शिकार बनता है।

इस प्रकार लोभ एक या कुछ व्यक्तियों को ही नहीं, सम्पूर्ण समाज को नीति और न्यायविहीन बना देता है तथा मानवता के भावों एवं मूल्यों को कुचल कर रख देता है। इस भयावहता से क्या अपनी व अन्य आत्माओं को संरक्षित करने की वेला आज उपस्थित नहीं हो गई हैं ?

### धन का नहीं, गुणों का वर्चस्व

यदि लोभ, लाभ तथा पाप की होड़ मिटानी है और उसके दुष्परिणामों से आत्मा की शुद्धता बचानी है तो व्यक्ति और समाज के जीवन पर से धन के वर्चस्व को दूर करना होगा। धन पगड़ी न बने, पैर की जूती बनी रहे –ऐसी सुव्यवस्था बनानी होगी। यह सुव्यवस्था लोभ का अन्त किये बिना कायम नहीं हो सकती है। लोभ रूप कषाय जब तक मानव के मन–मस्तिष्क को रौंदता हुआ रहेगा तब तक उसकी धन, सत्ता, सम्पत्ति आदि की लालसा पर कोई अंकुश नहीं लगाया जा सकेगा। लालसा रहेगी तो लूट चलेगी और लूट चलेगी तो मानवता, सामाजिकता तथा आध्यात्मिकता की हानि होती रहेगी।

धन के स्थान पर गुणों का वर्चस्व मानना और बनाना चाहिये। ये क्रोध, मान, माया लोभ आदि के कषाय सबसे बढ़कर आत्मिक गुणों का ही विनाश करते हैं। अतः कषायों और गुणों दोनों को साथ–साथ नहीं रखा जा सकता है। या तो कषाय ही रखिये और अपनी आत्मा को पतित बनाते जाइये अथवा इस भयावह अवस्था से चेतिये और आत्मिक गुणों को अपनाइये, कषाय से मुक्ति पाइये तथा धन के वर्चस्व को हटाकर गुणों के वर्चस्व को माथे पर चढ़ाइये। यहां तो गुणों के आगे व्यक्ति को भी कम महत्त्व दिया गया है और गुणात्मक श्रेष्ठता का ही सर्व पूजित रखा गया है, फिर गुणों का वर्चस्व बढ़ाने में हिचक क्यों ?

## प्रत्याख्यान

卐 विलासमय जीवन व्यतीत करके विलास की गोद में मरने वाला उस कीट के समान है जो अशुचि में ही उत्पन्न होकर अशुचि में ही मरता है।

卐 जैसे बिखरी हुई सूर्य की किरणों से अग्नि उत्पन्न नहीं होती परन्तु कांच को बीच में रखने से किरणें एकत्र हो जाती हैं और उस कांच के नीचे रुई रखने से आग उत्पन्न हो जाती है इसी तरह त्याग, वैराग्य से इन्द्रिय और मन को एकत्र करने से आत्म–ज्योति प्रकट हो जाती है।

卐 जो लोग भोजन, वस्त्र, मकान आदि के उपयोग में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं वे घोर अन्धकार में हैं। जीवन की सार्थकता आत्मा के उस विकास में निहित है जो न केवल क्षुद्र वर्तमान में ही उपयोगी एवं कल्याणमय है वरन् जिससे अनन्त मंगल की प्राप्ति होती है।

# प्रत्याख्यान से आत्म-शुचिता

इस ज्ञात संसार में पूर्वी भाग की संस्कृति तथा पश्चिमी भाग की संस्कृति में मौलिक भेद है। पूर्वी संस्कृति अति प्राचीन है और समुन्नत दार्शनिकता पर आधारित है, जबकि अधुनातन पश्चिमी संस्कृति का मूलाधार उस क्षेत्र की अर्थ सम्पन्नता पर टिका हुआ है। जब एक संस्कृति धर्माधारित है तो दूसरी अर्थाधारित, तो निश्चय है कि दोनों की वैचारिकता एवं परम्पराओं में भारी अन्तर होगा–अन्तर ही नहीं, दिशा–भेद होगा। और वस्तुतः पूर्वी और पश्चिमी संस्कृति का दिशा भेद है त्याग एवं भोग का।

पूर्वी भू भाग में आज भी पश्चिमी संस्कृति के गहरे प्रभाव एवं शासकीय बल पर पनपे अन्धानुकरण के बावजूद त्याग की पताका सबसे ऊंचे फहराती है। भोगवादी दबावों तथा राजनीति आदि के क्षेत्रों में फैले भ्रष्टाचार के उपरान्त भी अभी तक यहां पर त्यागी का सर्वोपरि सम्मान होता है। महात्मा गांधी को देश ने राष्ट्रपिता क्यों माना ? क्या वे भोगवादी और ऐश्वर्यशाली थे ? क्या वे अपने मौज मजे के लिये काम करते थे ? सभी जानते हैं कि ऐसा नहीं था। उन्होंने तो यह कह कर अपने बदन के कपड़े तक उतार कर एक लंगोटी धारण कर ली थी कि इससे अधिक गरीब देशवासी को नहीं मिल रहा है तो वे अधिक सुविधा क्यों भोगें ? उन्होंने सब कुछ छोड़ा और अपना बलिदान दिया तो देश ने उन्हें अपने अन्र्तहृदय का सब कुछ दे दिया।

इस देश की धरती पर महान् त्यागियों ने जन्म लिया और त्याग की महत्ता पर बल दिया। वे राजमहलों के अमित सुखों के बीच जन्मे, बड़े हुए लेकिन उस सुखमय संसार को पल भर में त्याग कर महात्मा बन गये और वन, ग्राम, नगर में पैदल प्रवास के परिषह भी समभाव से सहने लगे। उन्हें

मात्र स्व–पर कल्याण की लगन लगी हुई थी। सब सबके लिये छोड़ें फिर अभाव कहां रहेगा ? और अभाव रहेगा भी तो सबका सामूहिक सहकार उसे महसूस ही कहां होने देगा ?

सबका त्याग और सबका सहयोग इस सांसारिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था। वह तो आध्यात्मिक क्षेत्र में व्यापक बनता हुआ अनन्त ज्योतिर्मय दिशा में अग्रगामी बनता था। मूल रूप में यहां की त्याग–मर्यादाएं इतनी ऊंची है जो भोग के क्षेत्र में भी त्याग को प्रोत्साहित करती है। ये मर्यादाएँ हैं प्रत्याख्यान या पच्चखाण की या व्रताचरण की।

### प्रत्याख्यान क्या और क्यों ?

प्रत्याख्यान या पच्चक्खाण त्यागमय व्रत ग्रहण करने का नाम है। त्याग उसे कहते हैं जो छोड़ा जाय और छोड़ा वह जा सकता है जो अपने पास हो। दशवैकालिक सूत्र में त्याग की यह परिभाषा दी गई है–

जे य कंते पिए भोए लद्धे वि पिट्ठिकुव्वई।
साहीणे चइ भोए से हु चाई त्ति वुच्चई।।

अर्थात् जो मनोहर एवं प्रिय भोगों के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उन्हें पीठ दिखा देता है, वही वस्तुतः त्यागी है। किन्हीं अंशों में या किसी भी रूप में भोग का त्याग ही यथार्थ त्याग कहलाता है। त्याग यह भी होता है कि वर्तमान में अपने पास जो कुछ है, उसे या उस में से छोड़ा जाय तो त्याग भविष्य के लिये भी होता है कि अमुक पदार्थ अमुक सीमा तक ही रखा जाय तथा बाकी सब छोड़ दिया जाय। यही प्रत्याख्यान होता है कि अमुक मर्यादा रख कर सर्वत्याग लिया जाय अथवा ऐसा व्रत लिया जाय जिसके आचरण से त्याग की वृत्ति एवं प्रवृत्ति को बल मिलता हो। यह नहीं है कि कोई भी त्याग एक बार ही होता हो, प्रतिदिन भी त्याग का कोई न कोई व्रत ग्रहण किया जाता है तथा ऐसा व्रत ग्रहण करने की जो मर्यादा व परम्परा है वह प्रत्याख्यान है। छोड़ने का अर्थ होता है त्याग, तो त्याग का लक्षण प्रत्याख्यान होता है। पच्चक्खाण प्रतिदिन चलना चाहिए।

त्यागमय जीवन की धारा के प्रवाह को बनाये रखने के लिये तीनों काल में चलने वाले आचरण का अंकन किया गया है। इसका परिचय प्रतिक्रमण की क्रिया से मिलता है। जब प्रतिक्रमण करने के लिये बैठा जाता है तो सामायिक व्रत ग्रहण किया जाता है जिसमें दो करण तीन योग से सावद्य योग का प्रत्याख्यान लेना होता है। वह वर्तमान काल का त्यागमय आचरण होता है।

प्रतिक्रमण करते समय अपने भूतकाल के कार्यों की तथा व्रत पालन की आलोचना की जाती है कि कहाँ-कहाँ उसमें भूलें या अतिचार-सेवना हुई है तथा उनकी पुनरावृत्ति नहीं हो, ऐसी सावधानी रखी जाय। यह भूतकालीन आचरण का परिष्कार होता है। भविष्य की आचरण शुद्धि का विषय होता है प्रत्याख्यान जो प्रतिक्रमण के अन्त में छठे आवश्यक में किया जाता है। प्रत्याख्यान अनिवार्य होता है क्योंकि उसी के सन्दर्भ में किसी के त्याग का आकलन किया जाता है प्रत्याख्यान अनिवार्य होता है क्योंकि उसी के सन्दर्भ में किसी के त्याग का आकलन किया जा सकता है। यह प्रत्याख्यान किसी भी त्याग से सम्बन्धित हो सकता है, जो साधु, मुनिराज से अथवा उनकी अनुपस्थिति में वरिष्ठ श्रावक से लिया जाना चाहिए।

इस प्रकार प्रत्याख्यान वह सूत्र है जो जीवन के त्रिकाल आचरण को त्याग से जोड़े हुए रखता है। अतः यह आत्म-शुचिता के लिये प्रतिदिन ग्रहण किया जाने वाला पवित्र अनुष्ठान है जो विकारसेच्छुक आत्मा के लिये अनिवार्य है।

## प्रत्याख्यान के प्रकार एवं व्रत

यों तो प्रत्येक त्याग प्रत्याख्यान का एक प्रकार होता है जो संख्यातीत है। धारणा प्रमाणे पच्चक्खाण लेने का यही अर्थ होता है कि जिस को जिस प्रकार के त्याग की रुचि और सुविधा हो, वह अपनी धारणा के अनुसार वैसा प्रत्याख्यान ग्रहण कर ले। समुच्चय पच्चक्खाण का मूल पाठ इस प्रकार दिया गया है-

" गंठिसहियं, मुट्ठिसहियं, नमुक्कारसहियं, पोरिसियं, साढ्ढपोरिसियं (अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार) तिविहंपि चउविहंपि आहारं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं (अपनी-अपनी धारणा प्रमाणे पच्चक्खाण) अण्णत्थणा भोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि (वोसिरे)।"

इस मूल पाठ से प्रत्याख्यान की क्या मर्यादा होती है तथा उसके क्या आगार होते हैं- यह स्पष्ट है। जब प्रत्याख्यान सामूहिक रूप से कराया जा रहा हो तो "धारणा प्रमाणे" का उल्लेख होता है, लेकिन जब स्वयं प्रत्याख्यान लिया जा रहा हो तो वह किसी विशेष प्रकार का होता है अथवा किसी व्रत के आचरण से सम्बन्धित। वैसी दशा में उस विशेष प्रकार के उल्लेख से ही प्रत्याख्यान किया जाता है।

यों प्रत्याख्यान के दस सूत्रों का उल्लेख मिलता है-(1) नमस्कार सहित सूत्र (नौकारसी)-यह प्रत्याख्यान सूर्योदय के बाद एक सामायिक-समय

तक आहार आदि ग्रहण न करने से सम्बन्धित होता है। (2) पौरुषी सूत्र– यह प्रत्याख्यान सूर्योदय के बाद एक प्रहर तक आहार आदि नहीं ग्रहण करने का होता है। (3) पूर्वार्ध सूत्र– दिन के आधे भाग तक चारों प्रकार का आहार न लेने का प्रत्याख्यान। (4) एकाशन सूत्र– दिन में एक बार ही आहार लेने का प्रत्याख्यान। (5) एक स्थान सूत्र– एक स्थान (एकलठाणा) पर बैठकर आहार आदि ग्रहण करने का प्रत्याख्यान। (6) आचाम्ल सूत्र–आयंबिल तप का प्रत्याख्यान जिसमें विगह त्याग सहित एकाशन होता है। (7) अभक्तार्थ उपवास सूत्र– दिन भर में आहार आदि कतई ग्रहण नहीं करने का प्रत्याख्यान जो बीते दिन के सूर्यास्त के बाद से आरम्भ होकर आगामी दिन के सूर्योदय के बाद तक पूरा होता है। (8) दिवस–चरिम सूत्र–दिवस–चरिम तक आहार आदि ग्रहण नहीं करने का प्रत्याख्यान। (9) अभिग्रह सूत्र–धारणा प्रमाणे ग्रहण किये हुए अभिग्रह की पूर्ति के अनुसार आहार आदि लेने का प्रत्याख्यान। (10) निर्विकृतिक सूत्र– विगहों याने सरस पदार्थों का त्याग करके नीवी करने का प्रत्याख्यान।

सामान्य रूप से सं. 7 से आगे के प्रत्याख्यानों में चारों प्रकार के आहार–अशन, पान, खादिम व स्वादिम का त्याग होता है किन्तु यदि पानी का आगार रखना हो तो पच्चक्खाण का पाठ बोलते समय 'चन्द्रविहिं' की जगह 'तिविहं' बोलें।

वैसे प्रत्याख्यान का क्षेत्र बहुत विशाल एवं व्यापक होता है। व्रतों सम्बन्धी भी जितने त्याग किये जाते हैं, वे सब प्रत्याख्यान की परिधि में ही आते हैं। चाहे सामायिक या पौषध का व्रत लिया जाय अथवा हिंसा का त्याग हो या परिग्रह का अथवा परिभोग–उपभोग का–मूल रूप से प्रत्याख्यान ही कहलायगा।

प्रत्येक प्रत्याख्यान की तीन विधि और तीन प्रकार मौलिक होते हैं। तीन विधि है तीन करण–मन से, वचन से और काया से। तीन प्रकार हैं तीन योग– न करूं, न करवाऊं तथा न करने वाले का अनुमोदन करूं। अब प्रत्याख्यान जितना निम्न श्रेणी का होगा, उतनी ही विधि और प्रकार में न्यूनता रहेगी– एगविहं एगविहेणं एगविहं दुविहेणं, दुविहं दुविहेणं या तिविहेणं या तदनुसार। उच्च श्रेणी का प्रत्याख्यान तिविहं तिविहेणं होता है अर्थात् त्याग या व्रताचरण मन वचन काया तीनों से तथा तीनों प्रकारों से किया जाता है–तीन करण तीन योग से।

## विलासमय जीवन भी क्या जीवन है ?

विलासमय जीवन व्यतीत करके विलास की गोद में मरने वाला उस कीट के समान है, जो अशुचि में ही उत्पन्न होकर अशुचि में ही मरता है।

वास्तव में विलासमय जीवन भी क्या जीवन है ? एक कीड़े का जीवन—एक पशु का जीवन। साधन सुविधाओं का भले भेद हो, लेकिन वृत्ति और प्रवृत्ति में क्या अन्तर होता है ? मनुष्य का भी यदि वैसा ही विषय—कषाय युक्त जीवन हो जैसा कि एक कीड़े और एक पशु का होता है तो भला वह भी कोई जीवन कहलायगा ? मनुष्य जीवन की विशेषता क्या रहेगी ?

कल्पना करें कि आप किसी रमणीय उद्यान में जावें। वहां चारों ओर हरियाली, फल, फूल देखते हैं और सूखे पत्ते व कचरा भी होता है। अचानक एक कोने में आपको रत्नों का ढेर भी दिखाई देता है। अब आपको उस उद्यान से कुछ भी ले जाने की छूट मिली हुई हो तो सोचिये कि आप वहां से क्या ले जाना पसन्द करेंगे ? यहां तो आप बोलेंगे कि रत्न ले जाना चाहेंगे, लेकिन जब आपके सामने मानव जीवन का प्रश्न खड़ा किया जाता है तो आप अपने ही इस उत्तर को भूल जाते हैं। जानते हैं, इस मानव जीवन के रमणीय उद्यान में रत्न क्या हैं, फल फूल क्या हैं और, सूखे पत्ते व कचरा क्या हैं ? बारीकी से सोचिये कि इस जीवन से आप क्या ले रहे हैं ?

ये भोग विलास और यह शरीर व इन्द्रिय पोषण सूखे पत्ते और कचरा है जिसे ही लेकर आप खुश होते रहते हैं परन्तु समझ बूझ कर भी प्रत्याख्यान के रत्नों को समेटने का पुरुषार्थ वांछित मात्रा और रीति से नहीं करते हैं— यह चिन्तनीय दशा है। भोग अशुचि है जिस में गिरकर आत्मा मलिन हो रही है। इस मलिनता को दूर करने का तरीका त्याग का मार्ग और प्रत्याख्यान का पथ है। आत्म शुचिता इसी प्रकार प्राप्त की जा सकती है।

## राग से विराग और विराग से त्याग

जीवन में यह जो भोग विलास के प्रति आकर्षण होता है, वह जड़ पदार्थों के प्रति राग भाव के कारण होता है। जटिल मोह को राग कहते हैं, जो छुड़ाए नहीं छूटता है। इसीलिये राग अंधा होता है। जिसे चाहने लगते हैं, बस उसमें आसक्त हो जाते हैं। यह देखने की आवश्यकता नहीं मानते कि उसमें दोष और विकार क्या हैं तथा स्वस्थ जीवन के लिये वे कितने घातक हैं ? कोई राग के दोष और विकार सुझावे, तब भी राग के गाढ़ेपन में उन पर

आपका ध्यान नहीं जाता है। सन्त मुनिराज प्रतिदिन अपने प्रवचनों में आपको क्या सुझाते हैं ? यही न कि राग भाव को गाढ़ा बनाकर आप अपने जीवन का कितना अनर्थ कर रहे हैं ? किन्तु क्या उस पर आप पूरा ध्यान देते हैं ?

यही आपका राग भाव है जो भोग वृत्तियों एवं विलास साधनों से आपको जोड़े हुए रखना चाहता है और आप हैं कि राग को छोड़ कर विराग भाव से जुड़ना नहीं चाहते। राग भाव से जब तक जुड़े हुए रहेंगे, अशुचि बढ़ती रहेगी मलिनता और कलुषितता जमा होती रहेगी। फिर एक दिन यह राग भाव आपक बेड़ा गर्क कर देगा। अब आप ही सोचें कि आपको गर्क होना है या तैर कर उस पार पहुंचना है ?

यदि संसार सागर में बार–बार डूबना उतराना नहीं है और पार पहुंच कर मुक्त स्थली में विचरण करना है तो राग से विराग की ओर बढ़ना ही होगा क्योंकि राग छूटने से ही आत्म भाव जागेगा और त्याग की वृत्ति जन्म लेगी। प्रत्याख्यान से प्रारम्भ होने वाली इसी त्याग वृत्ति की उत्कृष्ट कोटि में पहुंच कर स्व–पर कल्याण सम्पन्न किया जा सकेगा।

## श्रेष्ठ जीवन का रहस्य

श्रेष्ठ जीवन का रहस्य कोई रहस्य नहीं है, वह तो प्रत्याख्यान और त्याग की खुली पुस्तक है जिसे हर कोई पढ़ सकता है तथा व्रताचरण से जीवन की श्रेष्ठता को प्राप्त कर सकता है।

हमारे यहां प्रत्याख्यान और त्याग की जो समुन्नत परम्पराएं एवं स्थापित मर्यादाएं हैं, उन्हें प्राणहीन होने से बचाना चाहिये। यह कार्य बढ़ती हुई भोगवादी प्रवृत्तियों का सार्थक विरोध करने से ही पूरा हो सकेगा। देश के महानगरों एवं नगरों में जिस प्रकार की भोगवादी विलासमय जीवन प्रणाली पनप रही है, वास्तव में वही त्याग परम्परा के लिये खतरा बन रही है। इस खतरे को कम किया जाना चाहिए तथा दैनंदिन जीवन में प्रत्याख्यान की परम्परा पुष्ट बनाई जानी चाहिये कि प्रतिदिन कुछ न कुछ त्याग लेने की आदत अवश्य बने। छोटे–छोटे त्याग से बड़े और सर्वस्व त्याग तक की अपूर्व वृत्ति का विकास किया जा सकेगा।

# 2
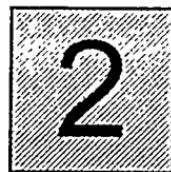
## त्याग–तप और शक्ति–संचय

जैसे बिखरी हुई सूर्य की किरणों से अग्नि उत्पन्न नहीं होती, परन्तु कांच को बीच में रखने से किरणें एकत्र हो जाती हैं और उस कांच के नीचे रूई रखने से आग उत्पन्न हो जाती है। इसी तरह त्याग, तप से इन्द्रियों और मन को एकत्र करने से आत्म ज्योति प्रकट हो जाती है।

यह आत्मा जब तक किसी प्रकार का व्रत या प्रत्याख्यान ग्रहण नहीं करती है अर्थात् त्याग की देहरी पर पैर नहीं रखती है तब तक उसके अन्तस्तल में बिखरी हुई शक्तियों का संचय नहीं हो पाता है। शक्तियां बिखरी हुई रहती हैं तो कोई शक्ति–प्रयोग नहीं किया जा सकता है और उसका सुपरिणाम नहीं पाया जा सकता है। रूई की तरह आत्मा को त्याग तप के कांच के नीचें रखें तो सूर्य किरणों की तरह आत्म–शक्तियाँ केन्द्रीभूत होकर आग की तरह तेजस्वी बनकर प्रकट होने लगेंगी और यही तेजस्विता आत्म ज्योति को सुप्रकाशित बना देगी।

अतः त्याग रूप प्रत्याख्यान ग्रहण तथा तप रूप व्रताचरण से ही बिखरी हुई आत्म–शक्तियों का संचय सम्भव हो सकेगा। आत्मा जब मिथ्यात्व के अंधकार से बाहर निकल कर सम्यक्त्व के प्रकाश में पग धरती है तो उसे स्व–स्वरूप का ज्ञान और परिचय होता है तथा यह भी विदित होता है कि सांसारिकता के बीज रूप राग और द्वेष से दूर होकर जब तक विराग की दिशा में कदम आगे नहीं बढ़ाये जायेंगे तब तक इस आत्मा का चरम कल्याण सम्भव नहीं हो सकेगा। इस प्रकार अन्तःकरण में एक अभिलाषा जागती है कि विराग की दिशा में आगे बढ़कर आत्म विकास के अनुभव को लिया जाय। इससे व्रत ग्रहण करने और प्रत्याख्यान लेने की रुचि जागती है तथा त्याग तप की सीढ़ियों पर ऊपर से ऊपर चढ़ने का पुरुषार्थ भी पैदा होता है।

आत्म पुरुषार्थ की सक्रियता त्याग तप के आचरण को कठोरतम बनाती जाती है और इस आत्मा का स्वरूप समुन्नत होता जाता है। इस समुन्नति का परिचय उसकी गुणस्थानों में प्रगति से मिलता है। जितनी समुन्नति, उतना ही गुणों और शक्तियों का अधिकाधिक संचय और जितना अधिक संचय उतनी ही मन और इन्द्रियों पर विजय, कर्म शत्रुओं पर विजय तथा प्रकाशमान आत्म ज्योति।

त्याग–तप का अन्तिम सुपरिणाम यही तो प्रकट होता है कि तेजविहीन बनी विकारों की दुर्बलताओं से सहमी और कर्म भार से दबी आत्मा अपने राग के आवरण को दूर हटाती है, त्याग–तप की आराधना से अपनी बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित करती है तथा अपने विकारों पर प्रहार करके व आत्म विरोधी शक्तियों को परास्त करके अपनी तेजस्वी ज्योति को सुप्रकट कर लेती है। ये ही आत्मोन्नति के सोपान होते हैं।

## त्यागमय व्रतों के आचरण का महत्त्व

मूल में यह आत्मा भोग और भोग के राग को छोड़े—यही त्याग है। जैसे अंधकार से दूर होने का अर्थ ही प्रकाश में जाना होता है, उसी प्रकार राग के त्याग का अर्थ होगा विराग और विराग की दशा में ही प्रत्याख्यान और व्रतों के आचरण का अमित महत्त्व प्रकट होता है, जो अन्ततोगत्त्वा देदीप्यमान वीतरागता में प्रतिफलित होता है। वीतरागता ही आत्मा का मोक्ष है क्योंकि उसकी सभी प्रकार के जड़ संबंधों से और तदनुसार संसार के भव भ्रमण से सर्वथा मुक्ति हो जाती है। आत्म ज्योति का सम्पूर्ण विकास इस मुक्ति से ही परिलक्षित होता है तथा तदन्तर वह आत्म ज्योति सदा काल के लिये निरन्तर सुप्रकाशित होती रहती है।

त्यागमय व्रतों के आचरण से एक रागी ही विरागी बनता है तथा आध्यात्मिकता की गहनता में रमण करता हुआ गुणस्थानों के सोपानों पर ऊपर से ऊपर आरूढ़ होता जाता है। उसकी आत्मोन्नति का यह चरम बिन्दु होता है कि वह विरागी से वीतरागी हो जाता है। राग जिस का व्यतीत (क्षय) हो जाता है, उसका द्वेष, दोष, विकार सब नष्ट हो जाता है और उसकी आत्मा पूर्णतया निर्विकार एवं निर्मल बन जाती है।

ऐसे महत्त्वपूर्ण त्याग तप के व्रतों के सामान्य स्वरूप का सदैव चिन्तन किया जाना चाहिए तथा आत्म पुरुषार्थ को जगाते रहना चाहिये कि उनका मन, वचन एवं काया के सधे हुए योग से आचरण किया जाय और वह आचरण निरन्तर सतत रूप से समुन्नत होता रहे।

## व्रत हिंसा के त्याग का

जीवन के स्वस्थ आचरण की नींव यह है कि हिंसा का त्याग किया जाय। हिंसा के त्याग से ही अहिंसामय जीवन शैली का विकास किया जा सकता है तथा मानव को पाशविक वृत्तियों से मुक्त बनाया जा सकता है। संसार के अधिकांश संघर्ष जीवनोपयोगी वस्तुओं या आगे जाकर भोग सामग्री की प्राप्ति के लिए होते हैं तथा इन्हीं संघर्षों से लोगों के बीच में भिन्न–भिन्न रूपों में हिंसा की आग भड़कती है जो विवादों से फैलती हुई महायुद्धों के महाविनाश तक पहुंच जाती है।

तो जहाँ हिंसा है, वहाँ पशुता है और पशुता को छोड़ना है तो हिंसा का त्याग करना ही होगा तथा अहिंसामय मानव के निर्माण से मानव जाति में बल्कि समस्त प्राणी समाज में आत्मीय समानता का सद्भाव जगाना ही होगा। सम्पूर्ण हिंसा का एक साथ त्याग सम्भव नहीं हो तो इसका त्याग कुछ चरणों में किया जा सकता है। पहले स्थूल हिंसा का त्याग करें–वह श्रावक का पहला अणुव्रत होगा तो सभी प्रकार की हिंसा का सर्वथा त्याग साधु का पहला महाव्रत होता है। साधु तो परम त्यागी हो जाता है किन्तु श्रावक को अपने आचरण में यथा साध्य अधिकाधिक हिंसा के त्याग का समावेश करना चाहिये। श्रावक के हिंसा–त्याग का रूप इस प्रकार होता है– (1) बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों की जानकर पहिचान करके और संकल्पपूर्वक हत्या की बुद्धि से हत्या करने का त्याग–प्रत्याख्यान। (2) एकेन्द्रिय आदि सूक्ष्म जीवों की रक्षा का वह विवेक रखे किन्तु उनकी हिंसा उसके लिये क्षम्य होती है। (3) त्रस जीवों में भी अपने से सम्बन्धित शरीर में पीड़ा देने वालों अथवा अपने प्रति अपराध करने वालों की हिंसा भी क्षम्य मानी गई है। (4) श्रावक को इस हिंसा का पच्चक्खाण दुविहं तिविहेणं होता है अर्थात् हिंसा कार्यो के अनुमोदन से उसको छूट रहती है। (5) त्यागी हुई हिंसा के बारे में भी वह अतिचार करे तो उसके लिये प्रायश्चित कर लेने से उसका व्रत भंग नहीं होता है।

अतः इतना हिंसा–त्याग तो प्रत्येक सद्गृहस्थ एवं गृहस्थी के सदस्यों को करना ही चाहिये ताकि सामाजिक रूप से अहिंसामय व्यवहार शैली का विकास हो सके।

## मृषावाद या एकान्तवाद का त्याग

कई विवादों का मूल विचार या मान्यता भेद भी होता है। अपने ही विचार या अपनी ही मान्यता को सम्पूर्ण सत्य मान लेने तथा दूसरों के विचारों

व मान्यताओं को मिथ्या कह कर तिरस्कृत करने से न तो तत्त्व का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है तथा न ही सत्य के दर्शन होते हैं। हठवाद से अपने विचार या मान्यता का सत्यांश भी पूर्ण मिथ्या हो जाता है और विवाद विग्रह का रूप लेकर कटुतम बन जाते हैं। इन सबकी सुलझन अनेकान्तवाद के सिद्धांत में रही हुई है, जो सिखाता है कि विचार–हठ या मताग्रह से दूर रहो, मृषावाद या एकान्तवाद को वैचारिकता में स्थान न दो, सभी विचारों एवं मान्यताओं में रहे हुए सत्यांश को जांचों और ग्रहण करो, सभी पहलुओं से वस्तु–स्वरूप की परख करो तथा सत्यान्वेषण के साथ पूर्ण सत्य से साक्षात्कार की साधना करते रहो। सच पूछें तो विकार संघर्षों को समाहित करने वाला ऐसा श्रेष्ठ सिद्धांत कोई दूसरा नहीं है। अनेकान्तवाद याकि स्याद्वाद के सिद्धांत से विचार समन्वय होता है।

साधु जीवन में सम्पूर्ण मृषावाद एवं एकान्तवाद का त्याग होता है तो श्रावक का त्याग स्थूल होता है कि वह मोटा झूठ न बोले, झूठी साक्षी न दे, झूठा लेख या लेखा न लिखे, झूठा आरोप न लगावे, स्त्री पुरुष का मर्म प्रकाशित न करे, न्यास का विश्वास न खोये तथा झूठा उपदेश न दे।

साधु के सभी त्याग तिविहं तिविहेणं होते हैं तो श्रावक के सभी त्याग दुविहं तिविहेणं। यहीं सूक्ष्म और स्थूल का अन्तर रहता है।

सत्य और अहिंसा को मानव जीवन के साध्य और साधन मान लें तब भी सर्वोच्च विकास साधा जा सकता है क्योंकि झूठ और हिंसा के त्याग में सभी दुर्गुणों का त्याग समा जाता है।

### चोरी का त्याग कितना गहरा ?

अपना क्या और चोरी क्या–यह विषय बहुत गहरा है। चोरी का दूसरा नाम हमारे यहां अदत्तादान बताया गया है अर्थात् जो आपका नहीं है अथवा किसी के द्वारा दिया हुआ नहीं है, वैसे पदार्थ को लेना चोरी है। इसलिए आपको यह सोचना है कि अपना क्या है ? जो अपने अधिकार में हो वह अपना अथवा अपने श्रम से नीतिपूर्वक उपार्जित किया हुआ पदार्थ अपना है। अपने अधिकार का तर्क मानेंगे तो अदत्तादान को भी अपने अधिकार में लेकर अपना बता सकेंगे। फिर तो चोरी की व्याख्या ही गड़बड़ हो जायगी। अतः अपने श्रम से नीतिपूर्वक उपार्जित पदार्थों को ही अपना मानना होगा और उसी के आधार पर अदत्तादान अथवा चोरी का निर्णय निकालना होगा। अतः जटिल व्यवसायों तथा उद्योगों के आज के अर्थ प्रधान युग में चोरी का त्याग बड़ा ही गहरा माना जायगा।

साधु का तो महाव्रत है ही, किन्तु इस चोरी के त्याग का श्रावक का तीसरा अणुव्रत होता है। श्रावक को स्थूल अदत्तादान का पच्चक्खाण होता है कि वह खात खनकर याने दीवार में गद्दा बनाकर, गांठ खोलकर, ताले पर कुंजी लगाकर या मार्ग में चलते को लूट कर चौर्य कर्म न करे, पड़ी हुई मालिकाना मोटी वस्तु को जानकर न ले, चोर की चुराई हुई वस्तु न ले, चोर को सहायता न दे, कानून विरुद्ध काम न करे, झूठा माप तौल न करे, वस्तुओं में मिलावट न करे। चोरी के त्याग सम्बन्धी इन बातों में एक–एक बात कितनी महत्त्वपूर्ण है– इसका अंकन आप स्वयं कर सकते हैं।

## कामाचार का त्याग

साधु अपने जीवन में पूर्ण ब्रह्मचारी होता है तथा सभी प्रकार के कामाचार का त्यागी, किन्तु अपने चौथे अणुव्रत के अनुसार श्रावक–श्राविका को स्वदार अथवा स्वपति में सन्तोष करने की छूट होती है। परस्त्री अथवा परपति के साथ काम सम्बन्धों के त्याग के अलावा श्रावक धर्म में कई प्रकार के कामाचारों का भी त्याग किया जाता है ताकि अवशेष मैथुन विधियां छोड़ी जा सकें।

कामाचार के त्याग के सम्बन्ध में अन्य व्रतों की अपेक्षा इस व्रत में कुछ अधिक छूट है। इसमें दुविहं तिविहेणं के स्थान पर एक विहं एगविहेणं (मनुष्य तिर्यंच सम्बन्धी) का त्याग होता है अर्थात् 'काया से न करूं' का ही। मन, वचन तथा न करवाऊं की उसे छूट होती है। यह छूट करणीय नहीं होती किन्तु उसकी वैसी दुर्बलता से उसका व्रत भंग नहीं होता है। चौथे अणुव्रत के अनुसार श्रावक अपनी पत्नि/पति से ही सन्तुष्ट रहे, पर स्त्री/पति का त्याग रखे, दूसरों के द्वारा ग्रहण की गई अथवा किसी के द्वारा ग्रहण नहीं की गई स्त्री/पुरुष के साथ गमन न करे, काम क्रीड़ाओं में लिप्त न हो, दूसरों के विवाह न करावे तथा काम भोग की तीव्र अभिलाषा नहीं रखे।

## परिग्रह-मूर्छा का त्याग व मर्यादा के प्रत्याखान

साधु तो पूर्ण रूप से निर्ग्रन्थ एवं अपरिग्रही बन जाते हैं– उन्हें तो अपने वस्त्र भंडोपकरण में भी परिग्रह–मूर्छा नहीं होनी चाहिये। परन्तु एक श्रावक के लिए उसके पांचवें अणुव्रत के माध्यम से विधान किया गया है कि वह अपने कृषि उत्पादन, सोना–चांदी, धन–धान्य, नौकर–चाकर, (द्विपद) तथा पालतू पशुओं (चतुष्पद) अन्य धातुओं आदि सभी प्रकार के परिग्रह का परिमाण निश्चित करें जो अल्पतम आवश्यकताओं के अनुसार हो। इस परिमाण या

मर्यादा के उपरान्त किसी भी प्रकार के परिग्रह को रखने का उसके प्रत्याख्यान होता है। श्रावक के लिए न्यूनतम परिमाण का निर्धारण तथा उस मर्यादा का पालन अनिवार्य होता है। मर्यादा का पच्चक्खाण उसके द्वारा कड़ाई से पालनीय कहा गया है।

यों शास्त्रों में परिग्रह में रहे हुए मूर्छा भाव को ही परिग्रह की संज्ञा दी गई है अतः परिग्रह के पदार्थों की मर्यादा लेते समय उसमें रहे अपने मूर्छा भाव का त्याग विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। श्रावक के लिए परिमाण निर्धारण अनिवार्य है तो परिमाण का अतिक्रमण उसका अतिचार होता है।

## प्रकार अनेक, लक्ष्य एक

त्याग और प्रत्याख्यान के ये तो कुछ मुख्य प्रकार हैं तथा तप रूप भी इनका स्वरूप है। ये प्रकार एक दृष्टि से अनेक हैं किन्तु अनेक या अनेकानेक का भी लक्ष्य एक ही है जो है आत्मशक्तियों को संचित करने का तथा आत्म ज्योति का पूर्ण रूप से प्रकाशित करने का। अतः किसी भी त्यागमय व्रत अथवा प्रत्याख्यान के पालन और परिमाण की कसौटी यही मानी जायगी कि उससे अपने अन्तःकरण में जागृति का उदय होता है या नहीं, आन्तरिक शक्तियों का अनुभव प्रबल बनता है या नहीं, सर्वस्व त्याग की प्रेरणा जागती है या नहीं तथा आत्मोन्नति के गुण-सोपानों पर ऊपर से ऊपर आरूढ़ होते रहने की प्रक्रिया जारी रहती है या नहीं।

एक लक्ष्य की ओर ध्यान केन्द्रित रहे तथा साधना प्रक्रिया में साधनों की शुद्धता एवं प्राभाविकता की परख होती रहे तो आत्म-विकास की यात्रा में गति-भंग होने की आशंका नहीं रहती है। त्याग, तप और प्रत्याख्यान प्रत्येक स्तर पर पहले से बचे हुए अथवा नये आने वाले विकारों को निकालते रहते हैं तथा आत्म स्वरूप की निर्विकारता एवं निर्मलता को अभिवृद्ध बनाते रहते हैं। आत्म शुचिता जितनी बढ़ती जाती है, उतने ही परिमाण में आत्म-शक्तियों का संचय प्रबल बनता जाता है एवं पुरुषार्थ पराक्रम का सामर्थ्य तेजस्वी होता जाता है। वैसी समर्थ और तेजस्वी बनी आत्मा संसार के समस्त प्राणियों को दिशा-बोध देती है तथा कल्याण का मार्गदर्शन करती है।

★

# जीवन की सार्थकता किसमें ?

जो लोग भोजन, वस्त्र, मकान आदि के उपयोग में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं, वे घोर अंधकार में हैं। जीवन की सार्थकता आत्मा के उस विकास में निहित है जो न केवल क्षुद्र वर्तमान में ही उपयोगी एवं कल्याणमय है वरन् जिससे अनन्त मंगल की प्राप्ति होती है।

जीवन की सार्थकता किसमें हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है जिसके प्रकाश में यह वास्तविकता स्पष्ट होनी चाहिये कि जीवन रक्षण की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति तो ठीक हैं, किन्तु उन्हीं की अधिकतम मात्रा को पाने के लिए अपने समस्त प्रयत्नों को लगा देना बुद्धिमानी नहीं है। बुद्धिमानी नहीं है– इसी का अर्थ है कि वे लोग जो इनकी प्राप्ति में ही अपने जीवन की सफलता मानते हैं, यथार्थ में वे घोर अंधकार में रह रहे हैं। उन्हें दिखाई नहीं देता है कि जहां वे खड़े हैं, उससे आगे कौन सा मार्ग है और उस पर आगे बढ़कर वे किन उच्च लक्ष्यों की प्राप्ति कर सकते हैं। ऐसे लोगों के अंधकार को दूर करने के लिए ही सर्वज्ञ प्रभुओं ने महान् करुणा करके सम्यक् ज्ञान का प्रकाश किया है और बताया है कि शरीर और उसकी सुविधाओं के विकास की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है अपनी आत्मा का विकास, अपने आत्म ज्ञान का का विकास तथा अपने आत्म–पुरुषार्थ का विकास।

कैसा हो अपनी आत्मा का विकास ? इस विकास कार्य में न तो वर्तमान की उपेक्षा हो और न मात्र भविष्य की ही कल्याण कामना। जो लोग यह सोचते हों कि अभी जिस रूप में धर्म साधना की जाती है और आत्मा का विकास साधा जाता है, वह भविष्य के लिए ही है कि इस जीवनान्त के पश्चात् सद्गति मिले और भावी जीवन सभी सुख–सुविधाओं से पूर्ण हो तो उनका

दृष्टिकोण साफ नहीं है—यह कहना पड़ेगा। वर्तमान में जो आत्म-साधना व
जाती है यह आप क्यों सोचते हैं कि उसका तात्कालिक प्रभाव नहीं होता
सोचिये कि आपने भावपूर्वक एक सामायिक की तो क्या उससे आपव
भावधरा पर समता का तुरन्त प्रभाव नहीं होगा ? अवश्य होगा। उससे तत्का
आपकी विचार शुद्धि होगी तो वाणी और कर्म में भी शुद्धता फैलेगी। जब म
वाणी और कर्म में संशोधन होगा, निर्मल भाव फैलेगा तथा सदाशतया व्या
होगी तो क्या तुरन्त ही आपके मन में शान्ति उत्पन्न होने से सुख की अनुभू
नहीं होगी और क्या आपके उस सरल व्यवहार से आपके सद् सम्पर्क में अ
वाले लोग सुख और शान्ति से लाभान्वित नहीं होंगे ?

अतः वर्तमान में धर्म साधना और आत्म विकास के सत्पुरुषार्थ
सुफल तुरन्त वर्तमान में पहले मिलता है जीवन के श्रेष्ठ रूपान्तरण में
निश्चय ही वैसे सत्कार्य से पुण्य कर्मों का बंध होगा अथवा पूर्वार्जित कर्मो
निर्जरा भी होगी जिसका सुफल भविष्य में भी मिलेगा। इस वर्तमान को
इसीलिए कहा है कि अभी घोर अंधकार है किन्तु अपने पराक्रम से यदि अ
भीतर प्रकाश की धारा बहा दें तो यही वर्तमान भव्य हो जायगा तथा वर्त
का यही विकास क्रम समुन्नत बनता हुआ इस आत्मा के भविष्य को भी अ
मंगल से परिपूरित कर देगा।

## ओछे और महान् उद्देश्य का अ

सामान्य रूप से प्रत्येक मनुष्य सामान्य क्रिया करता है तथा अ
उद्देश्य पूर्ति के उत्साह में विशेष क्रिया भी करता है। अतः प्राथमिक रूप से
देखना चाहिये कि उसने अपना उद्देश्य क्या निर्धारित किया है ? यदि उ
वैचारिकता की पृष्ठभूमि ज्ञान पूर्ण नहीं हुई और वह सांसारिक सुख-सुविध
में ही रचा पचा रहा कि कैसे वह स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करे, सुन्दर
सुहावने वस्त्र पहिने तथा सुख सज्जा से सम्पन्न भव्य भवनों में रहे तो इ
दायरों में बंधे हुए उसके उद्देश्य ओछे होंगे और वह इन्हीं उद्देश्यों के पीछे
भाग करके अपने अमूल्य जीवन को नष्ट कर देगा। किन्तु यदि उसे
समागम और सत्सम्पर्क मिल जाता है और उसे इस सत्य का ज्ञान हो ज
है कि आत्म विकास का पुरुषार्थ बहुत गहरा और बहुत ऊंचा होता है तो
अपने उद्देश्य का निर्धारण भी उसी रूप में करेगा तथा उसी महान उद्देश्य
प्राप्ति में अपने जीवन की समस्त शक्तियों को नियोजित कर देगा।

यह निर्विवाद तथ्य है कि जब कोई व्यक्ति समझ–बूझ के साथ अपने जीवन का उद्देश्य निर्धारित कर लेता है तो सच्चाई के साथ वह उस उद्देश्य को पा लेने का उत्साह भी अवश्य दिखाता है। वह विवेकपूर्वक उन्हीं साधनों को अपनाता है जिनकी सहायता से उसे लगे कि उसके उद्देश्य की सम्यक् पूर्ति हो सकेगी।

इस दृष्टि से बार–बार अपने मन में इस प्रश्न पर गहराई से चिन्तन करना चाहिये कि इस दुर्लभ मानव जीवन की सार्थकता किसमें हैं ? चिन्तन जितना ज्ञान के प्रकाश में गूढ़ता के तले तक पहुंचेगा, उतना ही जीवन का परम और चरम उद्देश्य स्पष्टतर बनता जायगा। उद्देश्य के निर्धारण को पूरा–पूरा महत्त्व दिया जाना चाहिए और गंभीर वैचारिकता के उदय के साथ ही यदि उद्देश्य निर्धारित हो जाय तो कर्म करने के लिए पर्याप्त समय मिल सकेगा। इस कार्य में संस्कारों का योगदान भी मिलना चाहिये और माता–पिता का दिशा दान भी। यदि युवावस्था के प्रारम्भ में ही विचारपूर्वक जीवन के उद्देश्य का निर्धारण कर लिया तो इसी जीवन में आत्म–विकास का उल्लेखनीय कार्य बहुत कुछ अंशों में सम्पन्न किया जा सकता है।

## प्रत्याख्यान, त्याग और व्रत का प्रभाव

जीवन के विकासशील उद्देश्य के निर्धारण तथा कार्यान्वयन पर प्रत्याख्यान, त्याग और व्रताचरण का बहुत ही कार्यकारी प्रभाव होता है तथा प्रगति सरल और सुसाध्य बन जाती है।

प्रत्याख्यान त्याग का ही प्राथमिक रूप होता है, जिसको ग्रहण करने से आत्म शुद्धि निखरती रहती है तथा जीवन के शुभ उद्देश्य पर ध्यान केन्द्रित बना रहता है। पच्चक्खाण लेने का क्रम नित्य प्रति का होना चाहिये। प्रातःकाल वन्दना और मुनिदर्शन के बाद उनसे कुछ न कुछ त्यागमय पच्चक्खाण लेना ही चाहिये चाहे वह आहार से सम्बन्धित हो अथवा वृत्ति संशोधन से सम्बन्धित, जैसे झूठ बोलने का, क्रोध करने का, गाली देने का, बुरा बर्ताव करने आदि का त्याग लिया जा सकता है। इसके अलावा रात्रि को प्रत्याख्यान लेने का विशेष महत्त्व है–इसे आप भली–भांति समझ लीजिये।

मनुष्य ने इसी जन्म में नहीं, बल्कि पहले के कई जन्मों में जितनी भी पापपूर्ण क्रियाएं की हैं और अगर उनका भावपूर्वक प्रत्याख्यान नहीं लिया है तो वे क्रियाएं दूरगामी प्रभाव तक उसके कर्मबंध करती रहेगी। जैसे एक उदाहरण दिया जाय कि किसी आत्मा ने अपने हरिण के जन्म में अपनी पापक्रियाएँ नहीं

(4) उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की दैनिक मर्यादा का प्रत्याख्यान भी लें तथा मर्यादा को बराबर निभावें। मर्यादा का प्रत्याख्यान प्रातः काल में ही ले लेना चाहिये।

(5) चारों प्रकार के आहार का भी घंटे-घंटे भर के लिए त्याग लेते रहिये ताकि अधिक त्याग की प्रेरणा बने। चार प्रकार का आहार होता है- 1. अशन-रोटी, चावल आदि सभी प्रकार का भोजन। 2. पान-दूध, द्राक्षारस आदि पीने योग्य सभी प्रकार के पेय पदार्थ 3. खादिम-बादाम, किशमिश आदि मेवा, फल और मिष्ठान्न आदि। 4. स्वादिम-सुपारी, लौंग, इलायची आदि मुखवास।

(6) श्रावक के चौदह नियम या उनमें से कोई नियम यथाशक्ति सबको ग्रहण करने चाहिये। यें हैं- 1. सचित्त-जीव सहित वस्तुओं के उपभोग का परिमाण करना। 2. द्रव्य-रोटी, दाल, भात की भी मर्यादा लेना। 3. विगय-सरस पदार्थो की। 4. उपानत-जूते, चप्पलों की। 5. ताम्बूल- मुखवास, पान-सुपारी आदि की 6. वस्त्र-पहिनने-ओढ़ने के कपड़ों की। 7. कुसुम-सूंघने के फूल, इत्र आदि पदार्थो की। 8. वाहन-घोड़ा, गाड़ी, मोटर आदि की। 9. शयन-पलंग, बिछौने आदि की। 10. विलेपन-चन्दन तेल आदि की। 11. ब्रह्मचर्य-मैथुन का त्याग। 12. दिशा- दिशाओं में गमनागमन की। 13. स्नान-स्नान के जल की। 14. भक्त-मिष्ठान्न आदि भोज्य पदार्थो की दैनिक मर्यादा का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

इन चौदह नियमों का सामाजिक महत्त्व भी है। आत्म त्याग से आत्म शान्ति प्राप्त होगी तथा पाप के समुद्र का जितना पानी घटे उतना ही उत्तम। लेकिन पदार्थो की मर्यादा लेने से पदार्थो का अपव्यय नहीं होगा, बल्कि बचत होगी, जिससे पदार्थो का विकेन्द्रीकरण अधिक व्यापक रूप से सम्भव होगा तो जरूरतमन्दों को सामग्री पहुचने से संविभाग का सुफल भी मिलेगा।

आप अपने जीवन व्यवहार में जितना अधिक नियमों, प्रत्याख्यानों या व्रतों रूप त्याग का प्रसार करेंगे, उतना ही अधिक आत्म-विकास का सत्कार्य भली विधि से सम्पन्न होगा तथा इस प्रकार आप अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध कर देंगे।

★

# दान

卐 यह मत भूलो कि आज जो करोड़पति है वही कल रोड़ पति हो जाता है, फिर अपनी सम्पत्ति का स्वधर्मी विकास में विनियोजन करने में क्यों कृपणता धारण करते हो ? कृपणता करके बचाया हुआ धन साथ नहीं जायेगा किन्तु कृपणता के द्वारा कमाया हुआ पाप जरूर साथ में जायेगा।

卐 दे दानी ! तू दान के बदले कीर्ति और प्रतिष्ठा खरीदने का विचार मत कर। अगर तेरे अन्तःकरण में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ है तो समझ ले कि तेरा दान, दान नहीं है, वह व्यापार है।

卐 संसार की माया (धन दौलत) गेंद के समान है, अगर खिलाड़ी की तरह इसे देते रहे, तब तो ठीक है—खेल चलता रहेगा, अगर इसे पकड़कर बैठ गये तो खेल बन्द हो जायेगा और धक्के भी खाने पड़ेंगे।

# दान दियां धन ना घटे

दान के सम्बन्ध में मानवता के दार्शनिक कबीरदासजी का एक सुन्दर दोहा है :–

चिड़ी चांच भर ले गई, नदी न घटियो नीर।
दान दियां धन नहिं घटे, कह गये दास कबीर।।

कितना मार्मिक भाव प्रकाशन है कि नदी बह रही है–निरन्तर जल प्रवाह चल रहा है। पहाड़ों से पानी आता है और सागर के गर्भ में जाकर मिल जाता है। अब नदी के उस प्रवाह में से कोई कितना ही जल ले तो नदी को क्या फर्क पड़ता है ? चाहें जितना पानी ले लें तब भी प्रवाह उसी तरह बहता रहेगा और तनिक भी नहीं लेंगे तो भी प्रवाह कोई बढ़ता नहीं है। नदी के ऐसे जल प्रवाह की उपमा धनपति के धन को दी गई है। संस्थापित व्यापार या व्यवसाय से धनार्जन होता रहता है तथा साथ में उसी अनुपात में विविध सांसारिक कार्य कलापों में धन का व्यय भी होता है, किन्तु अर्जन का सिलसिला चलता रहता है।

धन के उस प्रवाह में दान को चिड़ी की चोंच में आवे जितने पानी के समान बताया गया है। चिड़िया अपनी चोंचे में पानी भर कर ले जाय तो भला नदी के विपुल जल प्रवाह में क्या कमी आती है ? किन्तु कबीरदास जी ने आगे और आश्वासन दिया है कि चिड़िया की चोंच के पानी जितना भी अन्तर धनपति को नहीं गिरेगा यह कहकर कि "दान दियां धन नहिं घटे"।

कितना भी दान दें–दान से धन में कमी नहीं आयगी–यह भारतीय संस्कृति का विश्वास है। इस विश्वास में दान की अपूर्व महिमा समाहित है। हकीकत में दान को गेहूं के दाने भी मत समझिये कि जितने दानें हैं, उतना

ही आटा पिसेगा और उसकी उतनी ही रोटियां बनेगीं। दान देने से पुण्य के उपार्जन का यह क्रम नहीं होता है बल्कि उसका पुण्य बीज के गेहूं के समान होता है। एक किलो सादा गेहूं हो—उसकी उपयोगिता से बीज के एक किलो गेहूं की उपयोगिता कई गुनी बढ़ जाती है। गेहूं के एक किलो बीज से एक क्विंटल गेहूं तो कम से कम पैदा होता होगा— आप लोग अच्छी तरह जानते हैं। तो दान के पुण्यार्जन का घनत्त्व बीज के गेहूं के समान माना जाना चाहिये। ऐसी अवस्था में दान देने से धन के घटने का प्रश्न ही कहां खड़ा होता है ?

दिया हुआ दान अगर निःस्वार्थ एवं निर्मल भावना से दिया जाता है तो वह दान लेने वाले के लिये भी बीज का गेहूं ही साबित होता है। शुद्ध दान विशेष रूप से फलदायी बनता है। जिसने दान लिया है अथवा जिस प्रवृत्ति में दान दिया गया है, वहां भी यदि उस शुद्ध दान का ग्रहण शुद्ध भाव से होता है तो वह दान उसके लिए भी कल्याणकारी बनता है। दान के संदर्भ में लेने और देने वालों की भावना यदि उत्कृष्ट कोटि की हो तो उस दान पर देवता फूल बरसाते हैं अर्थात् उसकी परम सराहना होती है। कारण, उस शुद्ध दान का प्रभाव लेने वाले के जीवन में शुद्धता का ही सृजन करता है। अतः दान का सत्कार्य निःस्वार्थ भाव से दाता करे और विशुद्ध भाव से लेने वाला उसे स्वीकारे तो वह दान महान् पुण्य का कारणभूत बनता है।

### धन हो और दान की उदारता भी

यह सही है कि दान देने के लिये धन का अपने पास सद्भाव आवश्यक है, किन्तु धन का सद्भाव हो—इतना मात्र ही पर्याप्त नहीं है। धन हो और हृदय की उदारता भी हो तब दान दिया जा सकता है। धनपति तो बहुत होते हैं किन्तु उनमें हृदयहीन भी कम नहीं होते हैं। धन प्राप्त हो जाने के बाद वे यह तथ्य भी भुला देते हैं कि उन्होंने उस धन का उपार्जन नीति और न्याय से किया है या नहीं। उपार्जन की इस प्रक्रिया में वे कैसे कैसे भ्रष्टाचरण की गलियों से गुजरे हैं— यह भी उन्हें याद नहीं रहता है। धन का मद कुछ इस तरह दिल दिमाग पर छा जाता है कि वे अपने थोथे दंभ में सबको जघन्य समझने लग जाते हैं। ऐसे लोग दान की महत्ता को जल्दी नहीं समझते हैं और जब समझते हैं तो फिर दान देकर अपने अहं का प्रायश्चित करते हैं।

मूल बात यह है कि दान देने में अपने हृदय की उदारता परमावश्यक है। हृदय की यह उदारता धार्मिक संस्कारों से बनती और पनपती है तथा

मानवीय संवेदना से परिपूरित हृदय हो तब भी उदारता निखरती है। दान आचरण भी होता है तो भाव भी और दान कर्त्तव्य भी होता है तो करुणा का परिणाम भी। साधु सन्तों को आप आहार आदि बेहराते हैं तो वह भी दान ही है किन्तु वह आचरण और कर्त्तव्य है जिसके साथ श्रद्धा जुड़ी हुई होती है। दूसरी ओर किसी अनाथ बालक या पीड़ित व्यक्ति की सहायता रूप दान दिया जाता है तो उसके पीछे करुणा, दया या मानवीय संवेदना का शुभ भाव होता है।

दान किसी भी प्रकार का हो, तथ्य यह है कि उसके साथ हार्दिकता का संयोग अनिवार्य है। हृदय की श्रद्धा हो या करुण भावना हो या संवेदना—तभी उदारता भी होती है अन्यथा कोरा दान कल्याण की बजाय कई बार किसी न किसी रूप में कदाचार का कारण हो जाता है। वह दान न होकर दान का दम्भ मात्र रह जाता है। इसलिये सच्चे दान के लिये धन के साथ हृदय का सुन्दर संगम होना ही चाहिये।

### दान की महिमा भावना के साथ

महिमामय दान तभी होता है जब वह शुद्ध एवं निःस्वार्थ भाव से संयुक्त हो। दान से किसी भी प्रकार का प्रतिदान पाने की लालसा नहीं होनी चाहिये। हार्दिकता के बिना दिया हुआ दान अहं का टुकड़ा फैंकने से अधिक महत्त्व नहीं रखता है। दान देने में उदारता से भी पहले भावना का अस्तित्व आवश्यक है और आवश्यक होता है कि देते समय लेने वाले के प्रति पूरे सम्मान का भाव हो, बल्कि विनम्रता भी दिखाई जाय। दान दाता यदि अहंकार झलका देता है तो वैसा दान प्रशंसा का पात्र नहीं होता है। दान दाता जितनी अधिक आत्म—लघुता की अनुभूति लेगा उतना ही अधिक उसका दान महान् बनेगा।

इस बिन्दु पर भी विचार किया जाना चाहिए कि दान के साथ हृदय का संयोग तो हो ही किन्तु उसमें धन के सद्‌भाव का कितना महत्त्व रहेगा ? दान देने में भावना का जितना अंकन किया जाता है, उतना धन की राशि का नहीं। कल्पना करें कि एक करोड़पति ने एक लाख रुपये का दान दिया और एक अर्थ विपन्न सद्‌गृहस्थ उसी प्रवृत्ति में पांच रुपये का ही दान दे सका। पहले तो यह सोचिये कि दोनों की दान देने की भावना समान रूप से उत्तम हो तब भी किसका दान अधिक उत्कृष्ट माना जायगा ? राशि का हिसाब देखें, तब तो एक लाख और पांच रुपये में भारी अन्तर होता है, किन्तु यहां पर दोनों की परिस्थितियों का आकलन करना होगा। एक करोड़पति ने एक लाख रुपये

निकाल दिये तो वह उसके लिए किसी कष्ट का कारण नहीं होगा। यह राशि आसानी से वह दे सकता है। किन्तु जिस सद्‌गृहस्थ के पास एक दो दिन के भोजन का भी जुगाड़ न हो, वह यदि उच्च भावना के साथ पांच रुपये का दान देता है तो सचमुच में वह दान एक लाख के दान से कई गुना उत्कृष्ट कहलायगा। फिर यदि करोड़पति के दान के साथ यश या प्रशंसा की वृत्ति जुड़ी हुई हो तो वैसा दान उत्कृष्ट के स्थान पर निकृष्ट भी हो सकता है।

ऐसे कई अवसर आते हैं जब दान की इस रूप में समीक्षा की जाती है। स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी म.सा. ने एक बार ऐसी परिस्थितियों में वहुत बड़ी राशि के दान के विरुद्ध मात्र एक रुपये के दान की भूरि-भूरि सराहना की थी।

## भावना की उच्चता : दान की महत्ता

आपने पढ़ा-सुना होगा कि सेठ शालिभद्र जी को कितनी अपार ऋद्धि सिद्धि प्राप्त थी। रत्नों तक के भंडार भरे हुए थे तथा उस समय में भी उनके ऐश्वर्य की कोई तुलना नहीं थी। एक बार उस नगर में महाराजा उनके यहां मेहमान बनकर आये तो भोजन करके हाथ धोने के बाद उनकी अंगुलि में पहनी हुई एक बेशकीमती अंगूठी कहीं गिर गई जिसमें महाराजा के विचार से दुर्लभ रत्न जड़ा हुआ था। वे अंगूठी के लिये इधर-उधर नजर दौड़ाने लगे तो सेठ ने उसका कारण पूछा। महाराजा ने जरा व्यग्रता से वह बात बताई तो तुरन्त सेठ भीतर से "धोबा भर" (दोनों हथेलियों को पात्र के आकार में जोड़ने से बना स्थान) अंगूठियां ले आये और महाराजा को भेंट कर दी। महाराजा ने देखा कि उन अंगूठियों में उनकी अंगूठी से भी अधिक मूल्यवान रत्न जड़े हुए थे।

आप तो दीवाली पूजन पर बहियों में यह लिख कर अपनी भी कामना प्रकट करते हैं कि "शालिभद्र जी जैसी ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हों", किन्तु क्या आप जानते हैं कि उन्हें इतनी अपार ऋद्धि-सिद्धि किस सुकृत्य के फलस्वरूप प्राप्त हुई ? शालिभद्र जी अपने पहले के भव (जन्म) में एक गरीब घर में पैदा हुए थे। पिता मर चुके थे और मां मेहनत-मजूरी करने दोनों प्राणियों का पेट पालन करती थी। वह बालक पड़ोस के बच्चों के साथ खेल रहा था तो उसे पता लगा कि एक दो दिन में आने वाले त्यौहार पर उन सबके यहां खीर बनाई जायगी। बस, उसको भी खीर खाने का चाव आ गया। आकर उसने अपनी मां से जिद की। मां मुसीबत में पड़ गई। रोटी का ही जुगाड़ मुश्किल

से होता था तो वह अपने लाड़ले को खीर कहां से खिलावे ? बेटे की जिद बढ़ती ही गई। आखिर हार थककर मां ने उधार लाई हुई सामग्री से उस दिन सिर्फ बेटा खावे, उतनी खीर बना दी। खीर गरम थी सो उसे थाली में फैलाकर परोस दी गई। बालक खीर खाने को लालायित था कि कब वह खाने लायक ठंडी हो और वह उसे खा सके।

इसी बीच एक पुण्योदय का अवसर उपस्थित हो गया। एक तेजस्वी एवं तपस्वी सन्त ने गोचरी के लिए उस घर में प्रवेश किया। बालक बैठा था और उसके सामने खीर की थाली रखी हुई थी। मुनि महाराज को देखते ही बालक का हृदय उत्फुल्ल हो उठा और खीर बेहराने का उसका मन हो गया। आखिर बालक ही तो था– उसने एक काम किया कि आधी थाली के बीच में उसने अपनी अंगुलि से यह सोचकर लकीर खींची कि आधी खीर वह बेहरा देगा और आधी फिर उसके लिए रह जायगी। खीर तो तरल थी, पात्र में थाली से खीर गिराई गई तो सारी खीर चली गई। तिस पर भी उस बालक के मन में खेद का रंच मात्र भी प्रकट नहीं हुआ और पहले वाली ही उत्फुल्लता बनी रही। वह थाली में लगी खीर को चाटकर ही सन्तुष्ट हो गया।

शालिभद्र की ऋद्धि–सिद्धि का रहस्य इस खीर के दान में छिपा हुआ था। खीर का कोई मोल नहीं था अनमोल थी उसकी उच्च भावना कि कितनी कठिनाई से प्राप्त खीर का उसने उच्छल भाव से दान कर दिया। भावना की उच्चता से ही दान की महत्ता प्रकाशित होती है। इस उदाहरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि "दान दियां धन नहिं घटे" ही नहीं बल्कि "दान दियां धन बढ़े अपरिमित और अपार" का शुभ परिणाम प्रकट होता है। खीर की कितनी कीमत ? और उसकी एवज में मिली ऋद्धि सिद्धि का मोल कितना ? कोई हिसाब नहीं।

## दान के समीचीन क्षेत्र

आज के युग में दान दाता को पूरा विवेक भी रखने की आवश्यकता होती है कि दान किस पात्र को अथवा किस प्रवृत्ति में दिया जाय ? उसका कारण है। आज धोखेबाजी इतनी बढ़ गई है कि मुफ्तखोर झूठे बहाने बनाकर और प्रवृत्तियों के झूठे जाल फैलाकर एक तरह से दान लूट ले जाते हैं। अतः दान के योग्य पात्र को एवं प्रवृत्ति के समीचीन क्षेत्र को देखना व जांचना परखना जरूरी है। इतना ही नहीं कि दाता एक बार दान देकर निश्चिन्त हो जाय बल्कि उसका कर्त्तव्य बनता है यह देखने का कि उसके दान का सदुपयोग भी हो रहा है अथवा नहीं।

दान के कई समीचीन क्षेत्र हो सकते हैं, जहां दान के प्रभाव से पीड़ित मानवता को राहत पहुंचाई जा सकती है, बीमारी से तड़पते हुए गरीबों की चिकित्सा कराई जा सकती है, दीन हीन प्रतिभाशाली बालकों को शिक्षण सहयोग दिया जा सकता है, बेसहारा महिलाओं को रोजी के साधन सुलभ कराये जा सकते हैं और ऐसे ही हजारों तरह के काम हो सकते हैं जो कष्ट–निवारक हों। किन्तु एक कहावत है कि दान घर से ही शुरू होना चाहिये। तदनुसार आप लोग पहले स्वधर्मी भाइयों की तकलीफों में हाथ बंटावे और उन्हें आत्म विकास के मार्ग पर आगे बढ़ावें तो वैसा दान देने का क्षेत्र सर्वप्रथम समीचीन रहेगा।

यह मत भूलो कि आज जो करोड़पति है, वही कल रोड (Road) पति हो जाता है, फिर अपनी सम्पत्ति का स्वधर्मी बन्धुओं के विकास में विनियोजन करने में क्यों कृपणता धारण करते हो ? ऐसी कृपणता करके बचाया हुआ धन साथ नहीं जायगा, किन्तु कृपणता के द्वारा कमाया हुआ पाप जरूर साथ में जायगा।

इस आह्वान की ओर धनपतियों का ध्यान जाना चाहिये। दान का समीचीन क्षेत्र हो और धन का सद्भाव भी हो तो उच्छल भावना भी होनी चाहिये जिससे दान उदारतापूर्वक दिया जाय। कृपणता दुधारी तलवार साबित होगी कि जिससे इहलोक में भी अपयश मिलता है और परलोक में भी अनीति और अत्याचार करने से ही नहीं, कृपणता करने से भी पाप कर्मो की गठरी साथ में चलती है।

## दान लेने से लाभ ही लाभ

इस सत्य को अपने अन्तःकरण में जमा लीजिये कि उच्च भावना के साथ यथाशक्ति भी दिया हुआ दान महान् पुण्य का कारण बनता है। दान देने से लाभ ही लाभ होता है इहलोक में भी और परलोक में भी। इसलिये मुक्तहस्त से दान देने की सद्वृत्ति का विकास कीजिये और समाज के चहुँमुखी विकास में अपना योग दीजिये।

# दान का व्यवसायीकरण न हो

हे दानी, तू दान के बदले कीर्ति और प्रतिष्ठा खरीदने का विचार मत कर। अगर तेरे अन्तःकरण में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ है तो समझ ले कि तेरा दान, दान नहीं है, वह व्यापार है।

दान वास्तव में हृदय की करुणामय या श्रद्धामय भावना से उद्भूत आचरण या कि सहयोग होता है, जिसके पीछे न कोई स्वार्थ होना चाहिये और न ही किसी के प्रतिदान का विचार। यथार्थ में दान एक दृष्टि से आत्म सन्तोष होता है कि प्राप्त सामग्री का शुद्ध सदुपयोग किया जा सका है।

दान का एक और पहलू है जो दान को दान भी नहीं मानना चाहता है और मानता है तो यह कि दान एक कर्त्तव्य है, उपकार नहीं। यह पहलू है शास्त्रों में उल्लिखित संविभाग का पहलू। संविभाग एक अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है, बल्कि संविभाग का अभाव कर्मबंध एवं पाप का कारण कहा गया है। प्रश्न–व्याकरण सूत्र में कहा गया है कि जो असंविभागी है और अपनी प्राप्त सामग्री का ठीक से वितरण नहीं करता है, वह अस्तेय व्रत की सम्यक् प्रकार से आराधना नहीं कर सकता है, जिसका अर्थ होता है कि जो अपनी प्राप्त सामग्री का संविभाग नहीं करता है, उसका वह अकार्य चोरी माना जायगा। ऐसा स्पष्ट विचार क्या वर्तमान में सारी आर्थिक दुर्व्यवस्था को सुलझाने का सामर्थ्य नहीं रखता है ? संविभाग करना आवश्यक धर्म और कर्त्तव्य कहा गया है। फिर इस कर्त्तव्य पालन में दान का स्थान कहां रह जाता है ?

यही नहीं दशवैकालिक सूत्र में साफ–साफ उद्घोषणा की गई है कि जो संविभागी नहीं है और प्राप्त सामग्री का साथियों में वितरण नहीं करता है, उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। इतनी स्पष्ट घोषणा शायद ही बड़े से बड़ा

अर्थ–जगत् का क्रान्तिकारी भी नहीं कर पाया होगा।

आधुनिक युग में संविभाग का क्या अभिप्राय लिया जाय ? आज धन, सम्पत्ति, सत्ता, साधन आदि किस रीति से प्राप्त किये जाते हैं, अभी इस पर विचार नहीं करें। अभी तो इसी प्रश्न पर सोचें कि जो भी सामग्री जिनके पास है, उसका सम वितरण कहां और कैसे किया जा सकता है ? प्रत्येक मनुष्य को अपना व अपने परिवार का जीवन चलाने का कर्त्तव्य भी है तो अधिकार भी। अतः उस स्तर से इस रूप में जीवन निर्वाह की जितनी सामग्री अपने लिए आवश्यक हो उसे वह अपने पास रखे, जिस स्तर से समाज में उसके अन्य सभी साथियों का जीवन निर्वाह चलता हो। प्राप्त सामग्री को अपने लिये रखने तथा दूसरों में वितरित करने का क्रम साथ–साथ चलता रहता है। यह नहीं कि अपनी सात पीढ़ियां खावे उतनी या अपनी पूरी जिन्दगी चले उतनी सभी प्रकार की सामग्री अपने पास रखकर फिर अपने साथियों में अतिरिक्त सामग्री को बांटने का विचार किया जाय। यह विचार तो मनुष्य को तृष्णा की वैतरणी में धकेलता है। प्रक्रिया यह होनी चाहिये कि ज्यों–ज्यों धन–धान्य आदि सभी प्रकार की सामग्री का उपार्जन होता रहे, त्यों–त्यों मोटे अनुमान के साथ तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुरूप सामग्री अपने लिये रोकते हुए शेष सामग्री का साथ ही साथ अपने साथियों में अर्थात् मनुष्य जाति के अभावग्रस्त वर्गों में वितरण किया जाता रहे। संविभाग के सिद्धान्त का यही आन्तरिक आशय है।

अब संविभाग के सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में विचार कीजिए कि दान क्या होता है और यदि दान को महिमामय स्थान प्रदान करना है तो उसका किस सच्चाई के साथ आकलन किया जाय ?

## आज दान को व्यापार कैसे बनाते हैं ?

संविभाग के रूप में दे देना अनिवार्य कर्त्तव्य कहा गया है तो उसी अनिवार्य कर्त्तव्य को जब श्रद्धा और करुणा की भावना के साथ जोड़ दे तो वह देना निःस्वार्थ भाव के साथ दान बन जाता है, अतः दान एक महिमामय आचरण हो जाता है। ऐसे महिमामय आचरण का सीधा सम्बन्ध दानदाता के हृदय और लेने वाले के हृदय के साथ होता है। इसीलिए कहा गया है कि दान देने वाला जब उच्छल भाव से दान देता है और दान लेने वाला जव विशुद्ध भाव से दान ग्रहण करता है तो उस महिमामय दान की सम्पूर्ति पर देवगण देवलोक से पुष्प वर्षा करते हैं। सेठ शालिभद्र ने अपने पूर्व भव में खीर का

ऐसा ही महिमामय दान किया था जिसके फलस्वरूप आगामी जन्म में उन्हें अपार ऋद्धि सिद्धि की प्राप्ति हुई। इस प्रकार दान का सुकृत्य पूर्णतः भावनाओं के उस मिश्रित रूप पर निर्भर होता है जो उच्छल, निःस्वार्थ और विशुद्ध होती है।

ऐसे महिमामय दान की आज के युग में कैसी आन्तरिक स्थिति है उस पर एक दृष्टि दौड़ाएँ तो इस रहस्य का उद्घाटन हो सकता है कि दान को किस प्रकार एक व्यापार और जघन्य व्यापार बना दिया गया है ? दान की आन्तरिक महिमा को तो छोड़िये उसके बाह्य स्वरूप को भी किस रूप में कलंकित कर दिया गया है ?

दान के प्रति सामान्य जन का क्या भाव रहता है ? यह सही है कि दान देने के संस्कार परम्परा से चले आ रहे हैं और प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में यथाशक्ति कुछ न कुछ देने की भावना रखता है। वह भावना आज रूढ़ हो गई है। कुछ मौके और त्यौहार बना लिये गये थे, उन पर आज भी धान्य, वस्त्र आदि का भिक्षुकों को दान दिया जाता है किन्तु उसके साथ भावना का पुट लुप्त हो गया है। मकर संक्रान्ति है और जो भी द्वार पर मांगने आवे, उसे मुट्ठी-मुट्ठी भर धान देता है-बस इतना ही खयाल रह गया है। कहाँ दान की आवश्यकता है, कौन दान के पात्र हैं, किस सामग्री के दान की जरूरत है-इसका लेखा जोखा नहीं लगाता और न ही यह देखता है कि दान देने के बाद उसका सदुपयोग हुआ है या दुरुपयोग हो रहा है। जड़वत् कार्य हो रहा है। दान में जिस चेतना शक्ति का प्रयोग होना चाहिये, उसक अभाव दिखाई देता है। दान एक मूढ़ प्रतिष्ठा और विवेकहीन कार्य का प्रतीक हो गया है।

दान के प्रति शासन का क्या रुख है ? जैसे हमारे देश में कल्याणकारी शासन चलने की बात कही जाती है तो जहां भी अभाव होता है, सूखे या बाढ़ की प्राकृतिक विपदाएं आती है या व्यक्ति दुर्घटनाग्रस्त होते हैं तो उसके लिए सहायता राशि की घोषणा की जाती है, वह अनुदान भी एक प्रकार से दान ही है। किन्तु इस दान में कितनी राजनीतिक या दलीय लाभ उठाने की चालें चली जाती हैं या कि इसमें भी किन-किन तरीकों से कितना भ्रष्टाचार होता है-यह मुझसे आप लोग ज्यादा जानते हैं। 'अनुदान ले और वोट दे' का व्यापार भी चलता ही होगा।

अब उन लोगों के दान के प्रति वर्तमान भाव की जांच की जाय जो धार्मिक भावना से दान देना कहते हैं और धार्मिक प्रवृत्तियों के लिए दान देते

हैं। यह देखें कि दान देते समय उनकी भावनाएं किस प्रकार की होती हैं ? यह भी देखें कि वे किस प्रकार से प्राप्त कैसे धन का दान पहले करना चाहते हैं ?

## दान, कुत्सित कामनाओं के साथ ?

आज भी श्रेष्ठ दान की नास्ति नहीं है और ऐसे दानी भी अवश्य होंगे जो उच्च भावना के साथ श्रेष्ठ सामग्री का भव्य दान करते हैं। किन्तु यह चर्चा सामान्य स्थिति की है जिसमें कि दान के साथ आज के स्वार्थी मनुष्य ने अपनी नाना प्रकार की कुत्सित कामनाओं की पूर्ति का निकृष्ट विचार जोड़ दिया है। वह इस में भावना के स्थान पर कामना को ले आया है और कामनाएं भी इतनी कुत्सित कि उस दान की आलोचना ही अधिक होती है। इसका कारण है कि निःस्वार्थ भाव के स्थान पर दान देने में खुला या छिपा स्वार्थ मुख्य होता है तथा प्रतिदान की क्षुद्रता दान से भी पहले पैदा हो जाती है। जब देने से पहले लेने का खयाल बन जाता है तो उसे पक्का व्यापार ही कहा जायगा और जब दान को व्यापार मान कर काम किया जाता है तो वहां सौदेबाजी भी पूरी होती है तथा टेढ़ी मेढ़ी चालें भी जरूर चली जाती हैं।

दान के पीछे सबसे बड़ी कुत्सित कामना तो यह रहती है कि उसे उसके दान के बदले भरपूर यश और कीर्ति मिले। नाम का मोह जैसे एक एक पैसे में घुस गया है, तभी तो कहावत बनी है कि सुई का दान करे और विमान की बाट जोहे। कीर्ति लालसा के पीछे ही नामोल्लेख के पत्थर जोड़े जाते हैं, नाम से प्रवृत्तियां चलाई जाती हैं और स्वयं ही अपने अभिनन्दन एवं समारोह आयोजित करवाये जाते हैं। नाम के ही पीछे विभिन्न प्रवृत्तियों, संघों और संस्थाओं के पदाधिकारियों में विवाद उठते हैं और उठापटक होती है। मांगें रखी जाती हैं कि इतना दान लेना चाहते हो तो इस इस प्रकार का पदाधिकार और सम्मान दो। सार्वजनिक सभाओं में जब तक किसी अयोग्य व्यक्ति का भी भरपूर गुणगान नहीं किया जाय, तब तक दान देने का भाव ही नहीं उठता है। कुल मिलाकर दान को ऐसा व्यापार बना दिया गया है जहां दानदाता साहूकार बनता है और दान लेने वाला आसामी। इनके बीच व्यापारिक शोषण, लेन–देन, कुटिल व्यवहार तथा आपाधापी का करतब वैसा ही चलता है जैसा कि घटिया व्यापार के घटिया चलन में होता है। इस तरह से चलने वाली संस्थाओं आदि में भी स्वस्थ वातावरण का अभाव रहता है।

आखिर दान जैसे पवित्र सुकृत्य को व्यापार का रूप क्यों दे दिया गया है और सामान्य जन इस घृण्य स्थिति को सहन क्यों कर रहा है ? इसके कई कारणों में से असरदार एक यह कारण भी हो सकता है कि आजकल दान की राशियां नम्बर दो के खातों से ज्यादा आती हैं और कहा है कि चोरी का धन मोरी में। टैक्स का फायदा उठा कर राशि दान में दे दी तो दोनों हाथ लड्डू रह जाते हैं। इस तरह की राशियों के भावनाहीन तथा कामनामय दान से आखिर किस प्रकार के परिणाम की अपेक्षा रखी जा सकती है ? वही हो रहा है, शायद जो इससे होना चाहिए।

## गुप्त दान की परम्परा चलाइये !

दान को व्यापार बनने से रोकने का यह कारगर उपाय हो सकता है कि गुप्त दान की परम्परा चलाई जाय। गुप्त दान में वास्तव में दान इतना गुप्त रखा जाय कि उसमें दान दाता को अपनी कीर्ति, प्रतिष्ठा या प्रशंसा दिखाने का कोई अवसर नहीं मिले। नाम-मोह इस परम्परा से समाप्त हो जायगा तो आडम्बर प्रदर्शन का भाव भी शिथिल बनेगा। यह परम्परा वर्तमान की कीर्ति पाने की दुर्दमनीय इच्छा के बीच अवश्य पहले पहल बुरी लगेगी और अखरेगी कि हम अपनी कमाई का हिस्सा सामूहिक लाभ के लिए देते हैं किन्तु उसका श्रेय हमें कुछ भी नहीं मिले। किन्तु इस इच्छा के साथ संविभाग के कर्त्तव्य को जोड़ कर देखेंगे तो एक प्रकार का संतोष मिलेगा कि हमने भगवान की वाणी पर सही आचरण किया है।

ऐसा गुप्त दान वर्तमान में सुरक्षा प्रदान करेगा तो भावी जीवन के लिए भी विशेष पुण्य लाभ देगा। जब एक बार नीचे से ऊपर तक और गांवों से शहरों तक गुप्त दान की परम्परा चल जायगी तो धीरे-धीरे नाम मोह की कामना गलती जायगी और दान के सुकृत्य में शुद्ध एवं निःस्वार्थ भावना का समावेश होता जायगा। दान की शुद्धता में वृद्धि के साथ समूचे धार्मिक वातावरण में भी प्रोत्साहन और प्रेरणा का नया निखार आ सकेगा।

## छोटे दानदाताओं का महत्त्व बढ़ावें

गुप्त दान की परम्परा चलाने के साथ साथ छोटे-छोटे दानदाताओं के महत्त्व को भी बढ़ाने का प्रचलन करना चाहिए। इससे दान की शुद्ध भावना का विस्तार होगा तथा सामान्य जन में भी दान देने की प्रवृत्ति विकसित बनेगी। समाज और संघ में इस रूप से छोटे और सामान्य समझे जाने वाले सदस्यों का जब महत्त्व और मान बढ़ेगा तो उनकी धार्मिक निष्ठा बलवती होगी और

समाज व संघ को सबका समान सहयोग मिल सकेगा। इससे समाज व संघ का संगठन सुदृढ़ बनेगा।

## दान से आर्थिक विकेन्द्रीकरण

दान मूलतः भावनात्मक होने से धार्मिक सुकृत्य तो है ही, किन्तु दान की यदि व्यवस्थित रूप रेखा हो तथा संविभाग का समुचित व्यवहार हो तो दान का सुपरिणाम अर्थ के विकेन्द्रीकरण में प्रतिफलित किया जा सकता है।

आज सारे देशों में किन्हीं न किन्हीं वर्गों में असन्तोष की भावना चल रही है और अधिकांश विकासशील अथवा अविकसित देशों में ऐसा असन्तोष मुख्य रूप से आर्थिक समस्याओं के साथ सम्बधित है तथा वहां के अभावग्रस्त वर्गों में सम्पन्न वर्गों के प्रति एक प्रकार का आक्रामक आक्रोश भी फैलता जा रहा है। कई देशों में इस आक्रोश को दूर करने के लिए बलात् प्रयोगों पर कार्य किया जाता है तो कहीं प्रतिक्रिया में हिंसा का भी उभार हो रहा है। इस सारे वातावरण का यही उद्देश्य हो सकता है कि सम्पन्न वर्ग के पास जो अधिक सम्पत्ति जमा है उसे लिया जाय या कि उनके अधिकार में अधिक सम्पत्ति अर्जन करने के जो साधन हैं उन पर सार्वजनिक अधिकार हो। फैलते हुए आक्रोश में कभी भी विस्फोट हो सकता है और उससे असुरक्षा का वातावरण फैल सकता है। इस वातावरण को सहज बनाने में दान की प्रवृत्ति का भरपूर आश्रय लिया जा सकता है।

कोई कार्य बलात् और घातक परिणामों के साथ पूरा हो, उससे तो अच्छा रहता है कि वैसे कार्य को न्याय और नीति की सहायता से इच्छापूर्वक पूरा करने का प्रयास किया जाय। दान की प्रवृत्ति के विस्तार से अभावग्रस्त वर्गों में राहत की सांस पैदा की जा सकती है, उन्हें भी नीति और न्याय का मार्ग दिखाया जा सकता है तथा इच्छापूर्वक अर्थ का व्यापक विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है।

## दान की भाव-शुद्धता का निर्वाह

कोई भी कार्य करें, किन्तु इसका बराबर विचार रहे कि दान की भाव-शुद्धता का पूरा-पूरा निर्वाह किया जाय। कोई भी सुकृत्य भावना खोकर रूढ़ और प्राणहीन हो जाय उससे बढ़कर अन्य कोई हानि नहीं। किसी भी उज्ज्वल स्वरूप को विकृत बनाना अक्षम्य माना जाना चाहिये और दान को व्यापार बनाना तो दण्डनीय भी। कृपया दान को व्यापार न बनाएं और दान की भाव-शुद्धता का सर्वत्र निर्वाह करें। ★

# धन का गेंद : दान का खेल

संसार की माया (धन–दौलत) गेंद के समान है। अगर खिलाड़ी की तरह इसे देते रहें, तब तो ठीक हैं– खेल चलता रहेगा। अगर इसे पकड़कर बैठ गये तो खेल बन्द हो जायगा और धक्के भी खाने पड़ेंगे।

यह संसार एक प्रकार से खेल का मैदान है, जिस पर मानव समाज अपना खेल खेलता रहता है। खेल अगर नियम और अनुशासन से व्यवस्थित रीति से खेला जाय, तभी सही तरीके के खेल का रूप रहता है। अगर खेल के नियमों का पालन नहीं किया जाय और किसी निर्णायक का अनुशासन नहीं माना जाय तो खेल, खेल नहीं रह पायगा, उद्दंगल हो जायगा। इसमें सबसे महत्त्व का पदार्थ होता है खेल का साधन–गेंद आदि। खेल के दोनों दल आपस में नियमानुशासन से खेलेंगे तो उन्हें नियमानुसार गेंद को इधर उधर देते रहना होगा–खेल उसी दशा में चलेगा। यदि एक दल गेंद को रोककर खड़ा हो जाय तो क्या खेल चल पायगा ? फिर तो गेंद छीनने के लिये दूसरा दल दंगल ही करेगा। खेल टूटेगा तो मेल भी टूटेगा और उसके बाद कटुतर प्रतिक्रियाओं का तांता लग जायगा।

अब संसार के खेल के बारे में सोचिये। यहां पर खेल (जीवन निर्वाह) का साधन है धन, दौलत, माया, सत्ता, सम्पत्ति या साधन सामग्री जो गेंद के समान है। यहां प्रत्येक व्यक्ति या परिवार एक एकाई के रूप में एक दल है, जिसका खेल हर दूसरे दल के साथ चलता रहता है। जैसे शरीर में रक्त–संचार नियम और आवश्यकता के अनुसार होता रहे तब तक तो तन्दुरुस्ती बराबर रहती है और समझें कि कोई एक अंग या अवयव रक्त को अपने ही पास रोक ले और उसे संचरित न होने दे तो क्या उस का कष्ट कोई

एक या कुछ अवयव ही भोगेंगे अथवा सारे शरीर को उसका कष्ट भोगना पड़ेगा ? वही स्थिति मानव समाज की होती है। धन रूपी गेंद अगर सबके पास बराबर पहुंचता रहे याने कि उसे सभी यथानियम अपने पास से दूसरे को देते रहें तो समाज की व्यवस्था तथा एकजुटता निभती हुई चली जायगी।

इसके विपरीत कोई व्यक्ति या वर्ग उस गेंद को अपने पास ही रोक ले या सबके पास समान रूप से पहुंचाने की बजाय चन्द लोग अपने ही बीच उससे खेलते रहें और उस छोटे दायरे में ही उसे रोक लें, तब क्या सारा समाज स्वस्थ रह सकेगा ?

धन के गेंद से नियम और अनुशासन पूर्वक खेल चलाना है तो दान का खेल खेलिए। गेंद अपने पास आई और नियमपूर्वक आगे वाले को दे दी और आगे वाला क्रमानुसार देता रहे तो उस खेल में सभी की बराबरी की दिलचस्पी रहेगी, कोई उद्दंगल करने का खयाल भी मन में नहीं लायगा तथा खेल सद्भावना पूर्वक एक गति से चलता रहेगा।

जब खेल खेलने में खिलाड़ी की भावना रहती है और गेंद के प्रति झूठा मोह नहीं पनपता है तो वैसे खेल से शारीरिक स्वास्थ्य तो अच्छा बनता ही है किन्तु उससे भी बढ़कर मानसिकता में एकता और सहकारिता मजबूत बनती है और एक दूसरे की प्रगति में सहायक बनने की अभिरुचि जागती है। इस रूप में धन के गेंद से अगर दान का खेल खेला जाय तो सांसारिकता की व्यवस्था तो सुधरेगी ही, क्योंकि उद्दंगल उठने की आशंकाएं समाप्त हो जायंगी, किन्तु धार्मिकता और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में आत्मीय सहयोग की नई उत्क्रान्ति जन्म ले लेगी। अतः खिलाड़ी की भावना बनाइये दान की प्रवृत्ति जगाकर तथा फिर डट कर खेलिये धन को गेंद बना कर इस संसार के मैदान में–फिर देखिए कि संसार के मैदान में भी आत्म–विकास को प्रोत्साहित करने वाला प्रेरणास्पद वातावरण बनने और ढलने लगेगा।

## देवे सो देव और रखे सो राक्षस

प्राचीन काल में भावनापूर्वक दान का अनुपम महत्त्व था और आज भी उसमें रुढ़ता और बोधहीनता आई है लेकिन देने के संस्कार जीवित हैं। उसमें ज्ञान रूपी प्राण फिर से प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। ये संस्कार निर्मित हुए थे तब, जब दान की हार्दिकता और वास्तविकता अपनी उत्कृष्ट कोटि में प्रचलित थी। तभी इस उक्ति ने प्रसिद्धि पाई होगी कि देव वह जो देता है–मुक्त हस्त और हृदय से देता है तथा वह राक्षस कहलाता था जो अपने

पास धन सम्पत्ति को रोक कर रखता था, देना नहीं जानता था। वही बात हो गई कि जो धन के गेंद को बराबर देता रहता है और उसका माध्यम दान को बनाता है तो वह दानी देवता के समान पूजा जाता है क्योंकि उसके उस सद्व्यवहार से संसार का खेल सुगमता और सहृदयता के साथ चलता रहता है जिससे संसार में देवत्व का दिव्य वातावरण पैदा होता है। उसी धन के गेंद को अपने पास रोक कर रखें, दूसरे गेंद मांगे तो आंखें दिखावे और दूसरे गेंद के लिये तड़पें तो वह अट्टाहास करे–ऐसा व्यवहार राक्षसी ही तो कहलायगा और उस राक्षस को फिर दूसरे लोग कब तक बर्दाश्त करेंगे ?

इसलिये राक्षस बन कर क्रूर नहीं कहाना है और देवता होकर लोकप्रियता प्राप्त करनी है तो दान के खेल को समझिये, उसे नियमपूर्वक खेलना सीखिए तथा मानव समाज में सुख और शांति प्रसारित करने में अपना योगदान दीजिए। जो दान देंगे, उससे आपको सन्तोष मिलेगा तथा दूसरे को सुख एवं उस सुख और सन्तोष से संसार में भी शांति फैलेगी तो अपने आत्मीय भावों में भी उच्चता की विचार श्रेणी विकसित होगी। दान सभी पक्षों को सुख–सन्तोष और शान्ति देता है।

### ध्यान रखिये–धन की गति तीन हैं

ध्यान रखिये कि एक बार प्राप्त हुआ धन किसी के पास हमेशा के लिए टिकता नहीं है। उसकी गति बड़ी चंचल होती है, इसलिए उसका इधर–उधर गमनागमन चलता रहता है। डोलर के झूले की तरह कभी कोई धनवान बनकर ऊपर दिखाई देता है तो कभी वही अपना धन खोकर दीन–हीन सा नीचे दिखाई देता है। अतः धन के साथ भी विवेकवान पुरुष को वैसा ही व्यवहार करना सीखना चाहिये।

कहा गया है कि धन की तीन गति होती है। वह नाश तो होता ही है, इसलिए अगर उसको नाश से बचाना है तो उसका व्यय दो रीति से ही किया जा सकता है। या तो उसका सद्भाव एवं सदाशयपूर्वक दान करते रहिये या फिर उसे भोगविलास में नष्ट कर दीजिये। दान, भोग या नाश–धन की ये तीन ही गतियां हैं।

धन को भोग में बराबर क्यों नहीं करें– इसके बारे में विस्तार से चर्चा करते रहते हैं कि भोग में धन ही बरबाद नहीं होगा, यह दुर्लभ एवं अमूल्य मानव जीवन भी बरबाद हो जायगा। धन का नाश बचाने के लिए जीवन का नाश कर दिया जाय–यह तो महामूर्खता हो जायगी क्योंकि धन का प्रयोजनहीन

नाश हो गया तो वह सिर्फ मूर्खता ही होगी। धन का नाश बचाना है जीवन का विकास करने के लिए और उसका यही रास्ता है कि धन के उपयोग का सर्वश्रेष्ठ उपाय ही काम में लिया जाय, जो है दान का उपाय।

दान के उपाय से धन का नाश भी बचेगा और जीवन का नाश भी। इतना ही नहीं, दान इस जीवन को सद्‌गुणों से अलंकृत बनायगा और दूसरों के व समाज के जीवन को भी सन्मार्ग की ओर प्रेरित करेगा। धन का इससे बढ़कर क्या सदुपयोग हो सकता है ?

## अभयदान सर्वश्रेष्ठ दान

दान की महिमा तो उच्च से उच्चतर और उच्चतर से उच्चतम बनती है। धन का दान तो इस श्रेणी में सबसे नीचे है। धन मुख्य रूप से मनुष्य की बाहरी समस्याओं को सुलझाता है और बाहर की सुलझन को भीतर में उतारता है, किन्तु अन्य प्रकार के ऐसे दान हैं जो सीधे भीतर की आन्तरिकता पर श्रेष्ठ प्रभाव डालते हैं तथा वहां उत्थानगामिता की उमंग जगाते हैं।

अतः दानों में श्रेष्ठ कहा गया है– अभयदान–"दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।" भयभीत प्राणी को अभय प्रदान करना–यह श्रेष्ठ दान होता है। भय कई प्रकार के होते हैं जो प्राणियों को आतंकित करते हुए सताते रहते हैं। भय का सीधा कुप्रभाव मानसिकता पर पड़ता है। इस कारण भय की पीड़ा प्राणी को भीषण लगती है। उस भय से प्राणी को मुक्त करना तथा उसे अभय और निर्भय बनाना उसकी आत्मा को जागृत करना होता है।

इस अभयदान का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप वीतराग देव प्रस्तुत करते हैं। संसार में प्राणियों को सबसे बड़ा भय भव भ्रमण का होता है कि उनकी आत्मा अनादिकाल से इस भयंकर कष्ट को भोग रही है और आगे से आगे भव भवों के कष्टों का भय सामने खड़ा आतंकित करता रहता है। उस भय से मुक्ति दिलाती है वीतराग देवों की वाणी, जिसका मार्गदर्शन पाकर जो भी प्राणी अपने जीवन का संशोधन कर लेते हैं, वे भव भ्रमण के भय से मुक्त बन जाते हैं। यह वीतराग देवों का अभय–प्रदान होता है।

मानव जीवन में महत्तम एक दान होता है सर्वस्व दान। अपने पास जो कुछ हैं, उस सब का मोह त्याग देना और उसका दान कर देना अति विशिष्ट बात होती हैं। विशिष्टता का वह उच्चतम शिखर होता है जब इस शरीर और जीवन का भी श्रेष्ठतम प्रयोजन हेतु बलिदान दे दिया जाता है। सर्वस्व दान की शुभ भावना अतुलनीय होती हैं।

## श्रद्धा में झुलाने वाला महान् दान

श्रद्धा के पुण्यमय भावों में झुलाने वाला और दिव्य आनन्द देने वाला वह महान दान होता है जिसका उल्लेख श्रावक के बारहवें अतिथि संविभाग व्रत में आया है। अतिथि संवभिाग का क्या अर्थ ? पहले समझिये कि अतिथि कौन ? जिसके आने की कोई तिथि निर्धारित नहीं हो वह अतिथि और ऐसा भव्य अतिथि होता है श्रमण और निर्ग्रन्थ मुनि। उनकी प्रासुक ऐषणा में भावपूर्वक अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, कम्बल, पादपृच्छ, औषधि आदि दी जाय– यह महान् दान है। श्रावक सदा इस दान के सम्बन्ध में चिन्तन करे कि ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा है, साधु साध्वी का योग मिलने पर निर्दोष दान दूं तब शुद्ध होऊं। इस महान् दान में यदि श्रावक अश्रद्धा से अचित्त वस्तु सचित्त पर रख दे, अचित्त वस्तु सचित्त से ढंक दे, साधुओं को भिक्षा देने के समय को टाल दे, दान नहीं देने की बुद्धि से अपनी वस्तु दूसरे की कह दे या ईर्ष्या भाव से दान दे तो उसको अतिचार लगता है जिसकी उसे आलोचना करनी होती है।

दान का अन्तर्भाव होता है देने की उत्सुकता, जो भी अपने पास हो और जो भी लेने वाले के लिए अनुकूल हो। दान सभी प्रकार से आत्मोन्नायक होता है।

## कृपणता छोड़ें, उदार बनें

दान का ऐसा क्षेत्र है जिसमें मनुष्य को कभी भी कृपण नहीं बनना चाहिए और सच तो यह है कि कृपणता छोड़े बिना यथार्थ दान का स्वरूप ही पैदा नहीं हो सकता है। और एक बार दान की शुद्ध भावना जाग जाती है तो फिर वहां कृपणता टिक नहीं सकती है। उदारता वहां जन्म लेगी ही और निरन्तर पनपती भी रहेगी।

दान देने की विशुद्ध भावना को जगाते समय उदारता को भी जगाइये ताकि मुक्त हृदय और मुक्त हस्त से दान देकर पुण्यशाली जीवन बन सके।

# कुरीति रिवाज निवारण

卐 सम्पूर्ण मानव जाति की दयनीय स्थिति मिटाने के लिए एक ही मार्ग है। और वह है समता का आदर्श। इस आदर्श को उपस्थित करने के लिए व्यर्थ के भार स्वरूप रीति रिवाजों को छोड़ना परिवार, समाज, राष्ट्र के समुचित विकास के लिये आवश्यक है।

卐 सजग व्यक्तियों को चाहिए कि वे रूढ़ियों के गुलाम न रहकर उन कार्यों को त्यागें जो अनुचित, हानिप्रद और निरर्थक हैं।

卐 लोग मौज–शौक, भोग–विलास, आमोद–प्रमोद, दम्भ–पाखण्ड और प्रदर्शन का त्याग कर दें तो गरीबों को अपने बोझ से हल्का कर सकते हैं। साथ ही अपने जीवन को भी अभ्युदय के पथ पर अग्रसर कर सकते हैं।

# विषमता बनाम कुरीतियां

कुरीतियां बनती हैं उससे पहले वे रीतियां होती हैं और अपने प्रारम्भ के समय में अधिकांश रीतियां सुरीतियों के रूप में ही समाज में प्रचलित होती हैं। यहां विचारणीय वस्तु विषय यह है कि फिर ये रीतियां कैसे अपने 'सु' विशेषण को खो देती है तथा कैसे 'कु' विशेषण से युक्त बन जाती हैं ?

सर्वप्रथम यह भी देखें कि ये रीतियां ही क्या होती हैं और क्यों बनती हैं ? रीति का अर्थ होता है पद्धति या प्रणाली किन्तु उसका रीति नाम तब होता है जब कोई पद्धति या प्रणाली सामाजिक स्वीकृति पा जाती है। सामाजिक स्वीकृति पाने का सामान्य अर्थ यही निकलेगा कि उस पद्धति या प्रणाली की अपनी अच्छाइयां और विशेषताएं होनी चाहिये जो व्यक्ति के हित की भी रक्षा करती हों तथा समाज के संगठन को भी सुदृढ़ बनाती हों और सबके द्वारा उसको अपना लेना भी उसकी अच्छाई का ही सबूत होता है।

जैसे किसी के घर में उसके किसी आत्मीय जन का किसी दुर्घटना में देहान्त हो जाता है तो यह उस परिवार के लिये एक धक्के के समान होता है जिसे वह अकेला सह नहीं सकता है–उसे अपने सम्बन्धियों, पड़ोसियों या मित्रों आदि की सहानुभूति की अपेक्षा होती है। इसी कारण रीति बनी कि किसी के घर किसी की मृत्यु हो जाय तो उस दुःख में उसके सभी निकटस्थ भागीदार बनकर समवेदना प्रकट करें। कैसे प्रकट करें समवेदना–यह रीति है। वे मृत व्यक्ति के अन्तिम संस्कार में सम्मिलित होते हैं–दाह आदि की क्रिया करवाते हैं। घर में भी भोजन बनाने व परिवार वालों को खिलाने तक का काम बाहर की महिलायें करती हैं। परिवार वालों के असह्य दुःख में ढाढस बंधाने के लिये कुछ दिन चौबीस घंटे पुरुष और महिलाएं उनके साथ बनी

रहती हैं और आती जाती हैं। बैठने आने का और बैठक लगाने का ऐसे ही रिवाज पड़ा होगा। तब न जोर-जोर से रोने का ढोंग किया जाता होगा और न ही मृत्यु के दुःख में भोज किया जाता होगा। कहीं कहीं तो यह रिवाज तक सुना गया है कि मृत्यु वाले घर में खाना भी दूसरे घरों से बनाकर लाया जाता था या कि सामान लाकर बनाया जाता था ताकि उस परिवार के दुःखित जनों को व्यवस्था का श्रम न करना पड़े। सभी तरह से मृत्यु के समय की रीतियों द्वारा शायद यह प्रयास किया जाता था कि जिस घर में मृत्यु हुई है, उस परिवार वालों को सभी की ओर से ऐसी सहानुभूति और ऐसा सहकार मिले कि वे उस दुःख को सहन करने की शक्ति पा सकें और उनका दुःख हल्का हो सके। दुःख बांटने से हल्का हो जाता है।

इस उदाहरण द्वारा यह समझा जा सकता है कि सांसारिक कार्यों में रीतियों का निर्धारण तथा उनका प्रचलन सामान्य रूप से शुद्ध भाव के साथ शुद्ध भावों को जगाने तथा जगाकर बनाये रखने के उद्देश्य से ही होता है। अपने प्रचलन के प्रारम्भ में रीतियों का स्वरूप भी शुद्ध होता है तथा लोग भी उत्साह के साथ उनकी उपादेयता को समझकर ही उन्हें अपनाते हैं। यह प्रचलन तब तक शुभ और सुखदायक रहता है जब तक रीतियों के पालन का क्रम शुद्ध बना रहता है। पालन करने वालों में ही दोष पैदा होते हैं कि इन रीतियों का 'सु' धीरे धीरे 'कु' में बदल जाता है। अतः इन रीतियों के विकृतीकरण तथा पुनर्शुद्धीकरण की प्रक्रिया को भी समझ लेना चाहिये।

## रीतियों में विकृतियां समाने का क्रम

यह देखने में आता है कि जब कोई नया कार्य शुरू किया जाता है तो उसके करने वालों में कुछ उद्भुत उत्साह होता है किन्तु ज्यों-ज्यों वे काम करते जाते हैं, उस उत्साह में धीरे-धीरे ही सही-कुछ-कुछ कमी आती जाती है और एक समय ऐसा आता है जब वह उस काम को केवल रूढ़ मनोवृत्ति से ही करने लगते हैं-उत्साह का पुट समाप्त हो जाता है। यह शिथिलता काल प्रवाह की शिथिलता होती है।

इसी प्रकार रीतियां भी जब सामाजिक धरातल पर प्रचलित होती हैं, तब उनका पालन भी अमित उत्साह और सतत् जागृति के साथ किया जाता है। यह भी सावधानी रहती है कि कोई अपने स्वार्थ या किसी जघन्य कारण से किसी रीति का स्वरूप विकृत न बना दे। जातिगत पंचायतों का नियंत्रण बाद में भले ही बिगड़ा हो, लेकिन प्रारंभ में उसका उद्देश्य रीतियों के शुद्ध रूप

से पालन को प्रोत्साहित करना ही था। उत्साह और जागृति में ज्यों–ज्यों कमी आती गई, रीतियों के सम्यक् प्रकार से पालन में भी शिथिलता बरती गई है जिसे काल प्रवाह का प्रभाव कह सकते हैं।

व्यक्तियों की जागृति में शिथिलता से रीतियां के पालन में शिथिलता आई तो उस शिथिलता ने सावधानी और सामाजिक नियंत्रण को कमजोर बनाया। तब व्यक्तियों के मन में कर्त्तव्य भावना से अकर्त्तव्य की असावधानी पनपने लगी। और असावधानी से किसी में भी विकारों का आना व पनपना स्वाभाविकता होता है। प्रचलित रीतियों में इस प्रकार विकृतियां प्राकृतिक प्रक्रिया से समा गई।

दूसरा मुख्य कारण रहा इस मामले में कि मनुष्य की स्वार्थपरता, हीनभावना और कुत्सित कार्य प्रणाली ने रीतियों में नाना प्रकार की विकृतियों का विस्तार किया। चूंकि काल प्रवाह से पालन में शिथिलता व्याप्त हो चुकी थी, दुर्भावनाग्रस्त व्यक्तियों की करनी चल गई–उसके सामने प्रबल विरोध उठ नहीं पाया। जो रीतियां एक दूसरे को सन्तोष पहुंचाने की सद्भावना पर आधारित थी, इन स्वार्थी व्यक्यिों ने उस आधार पर ही कुल्हाडे चलाने शुरू कर दिये ताकि समाज में उनका वर्चस्व बढ़ सके।

## विकृति की अति और प्रतिरोध की जागृति

इन्हीं रीतियों में जब तरह–तरह की इतनी और ऐसी विकृतियां समाती जाती हैं कि जो समाज के बहुसंख्यक भाग के लिये कष्ट और पीड़ादायक बन जाती हैं, तब उन रीतियों की खराबियां महसूस की जाने लगती हैं। अधिकांश प्रबुद्ध लोगों का ध्यान उनकी ओर जाता है कि वे रीतियां क्यों सारे समाज में संत्रास फैला रही हैं और कैसे उसका निवारण किया जाय ? यों कहें कि रीतियों में जब विकृति की अति होने लगती है तब, उनके विरुद्ध प्रतिरोध की जागृति भी उत्पन्न होने लगती है और एक प्रबल इच्छा शक्ति जागती है कि उन रीतियों के मूल्यों में क्रान्ति की जाय।

किसी परिवार में हुई मृत्यु के समय की प्रचलित रीतियों के बारे में ऊपर बताया गया है किन्तु यह भी सोचें इसी उदाहरण के माध्यम से कि रीतियों में विकृतियां कैसी समाती जाती हैं ? जब किसी परिवारजन की मृत्यु होती है और उस परिवार मे आत्मीयता का वातावरण होता है तो अन्य परिवारजनों को मोहवश ही कहिये किन्तु दुःख होता है। दुःख में उन्हें सान्त्वना देने के उद्देश्य से मरण समय की रीतियां प्रचलित हुई। तब किसी परिवार में

वातावरण प्रेममय नहीं रहा होगा और किसी सदस्य की मृत्यु से उतना दुःख नहीं हुआ होगा कि स्वाभाविक रूप से आंसू बहने लगें। उस शर्म से बचने के लिये वहां जोर–जोर से आवाजें करके रोने की पद्धति शुरू कर दी गई होगी और धीरे–धीरे उसको बल देकर कुरीति गढ़ दी जोर–जोर से बोल–बोल कर रोने की, जो अस्वाभाविक लगती है। इसी तरह मृत्यु के समय पर भी अपने धन का प्रदर्शन करने के लिये परिवारजनों ने सादे भोजन की जगह मिष्ठान्न बनाना शुरू कर दिया होगा और खाने व खिलाने वालों के विवेकहीन समर्थन से कुरीति बन गई होगी मृत्युभोज की। तो मरण काल की सुरीतियां इस तरह 'कु' के विशेषण पकड़ती गईं। और ये आज इतनी 'कु' महसूस हो रही है कि आप लोगो में जबरदस्त प्रतिरोध जाग गया है और इन कुरीतियों को पूरी तरह से उखाड़ फेंकने की आप लोगों की तैयारी है।

मनुष्य की चेतना और जागृति सदा शिथिल और सुषुप्त नहीं बनी रहती है और विकृतियों की अति देखकर फिर उनमें नया दौर आता है। वर्तमान समय को बारीकी से देखें तो आपको प्रतीत होगा कि समाज में प्रचलित सभी कुरीतियों के विरुद्ध इस समय में प्रबल प्रतिरोध जागृत है। आवश्यकता है प्रतिरोध को सही दिशा देने की और उसके बाद रीतियों में शुभ भावनाओं की नई प्राण प्रतिष्ठा करने की। इस ओर समाज का रचनात्मक दृष्टिकोण बनना चाहिये।

## बोझिल रीति रिवाजों का त्याग

इस दिशा में पहला काम यह हाथ में लिया जाना चाहिये कि जो रीति रिवाज आर्थिक दृष्टि से अथवा अन्य किसी भी दृष्टि से पूरे समाज के लिये या समाज के बहुसंख्यक लोगों के लिये भार स्वरूप होकर कष्टदायक बने हुए हैं, उन रीति रिवाजों का त्याग व निवारण सबसे पहले किया जाय तथा उनका प्रचलन बन्द किया जाय। यह काम इसलिये आसान नहीं है कि मनुष्य की स्वार्थपरता, हीनभावना और कुत्सित कार्य प्रणाली किन्हीं–किन्हीं वर्गो में अभी भी ताकत के साथ काम कर रही हैं अतः नवयुवकों को मुख्य रूप से आगे आना चाहिये, क्योंकि उत्क्रांति का बीड़ा यही वर्ग उठा सकता है और परिवर्तन का साहस दिखा सकता है।

किसी भी उत्क्रान्ति का यही उद्देश्य होता है कि प्रचलित मूल्यों या कि रीतियों में जो विकृतियां समा गई हैं, उन्हें पूर्णतः दूर करके उन रीतियों की मूल शुभ भावनाओं को पुनर्जीवित कर दिया जाय। हमारा दार्शनिक सिद्धान्त

इस सत्य को स्पष्ट करता है कि 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत' अर्थात् कोई भी वस्तु रीति आदि तीन प्रक्रियाओं से गुजरती है। वह उत्पन्न होती है, नष्ट होती है किन्तु अपने शाश्वत तत्त्व के रूप में ध्रुव भी रहती है। जैसे समझिये कि चांदी के मोटे-मोटे कड़ें हैं-आप जानते हैं कि पहले ये पहिने जाते थे लेकिन अब रिवाज नहीं है तो उन्हें तुड़वा कर पायजेब बना लिये। यह परिवर्तन कैसा रहा ? कड़े बने थे सो टूटे और नये पायजेब बन गये लेकिन इसका ध्रुव तत्त्व क्या रहा ? यह रहा चांदी के रूप में जो नष्ट नहीं हुआ। इसी प्रकार रीतियों के परिवर्तन में यही दृष्टिकोण रहना चाहिये कि कड़े, पुराने और मैले पड़ गये हैं तो उन्हें गला लिया-चांदी का शोधन हो गया और नये पायजेब बना लिये। पुरानी रीतियों के विकार को जहां नष्ट करना है, वहां उसकी अच्छाई को नष्ट नहीं करें बल्कि उसका शोधन करके उसे पुनः प्रतिष्ठित बना दें।

केवल विनाश कर देना ही क्रान्ति नहीं होती है। रीति-रिवाजों का जो भार और दोष है उसे निकाल दीजिये लेकिन यहीं पर रुकिये नहीं। सही काम आगे होता है कि रीतियों को नया स्वरूप प्रदान किया जाय।

## समता के आदर्श की पुनर्प्रतिष्ठा

सम्पूर्ण मानव जाति की दयनीय स्थिति मिटाने के लिये एक ही मार्ग है और वह है समता का आदर्श। इस आदर्श को उपस्थित करने के लिये व्यर्थ के भार स्वरूप रीति-रिवाजों को छोड़ना परिवार, समाज, राष्ट्र के समुचित विकास के लिये आवश्यक है।

रीति-रिवाजों के सन्दर्भ में समता का आदर्श यही कहता है कि समाज में सबको उनके पालन में समान रुचि हो तथा उनका प्रभाव सब पर समान रूप से सुखकारी भी हो। रीतियों में मुख्य रूप से विकृतियां समाती है ढोंग, आडम्बर, स्वार्थ और प्रदर्शन की दुर्भावना से। ऐसे ढोंगी और पाखंडी धीरे -धीरे रीतियों के मूल्य ही बदल देते हैं तथा पहले जिस अच्छाई के कारण रीति-पालन की प्रतिष्ठा होती है, उसी प्रतिष्ठा को वे रीति-पालन की बुराई के साथ जोड़ देते हैं। पहले यह प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी कि किसी की मृत्यु होने पर उसके परिवारजनों को हर तरह से सांत्वना और सहयोग दो। तब ढोंगियों ने उस रीति को विकृत बना कर जोर-जोर से रोने और मृत्युभोज करने को प्रतिष्ठा दिला दी। जो जोर से नहीं रोवे और मृत्युभोज नहीं करे उसकी निन्दा होती और उसे समाज में अप्रतिष्ठित करार दिया जाता। अब इस रीति में

परिवर्तन का प्रश्न यही है कि जोर–जोर से रोना और मृत्युभोज करना विकृत रूप है उसे समाप्त कर दिया जाय तथा सान्त्वना और सहयोग की रीति को समता के आदर्श से पुनर्प्रतिष्ठित बनाया जाय।

इसी प्रकार समाज में प्रचलन पाई प्रत्येक रीति के सम्बन्ध में विस्तृत विश्लेषण किया जा सकता है कि उसका मूल रूप क्या था, उस मूल रूप का उद्देश्य क्या था, फिर उसमें विकार किस भांति समाये, यह कुकर्म समाज के किस भाग का था और अब समाज के उस भाग तथा आज की उस कुरीति का संशोधन कैसे किया जाय एवं कुकर्म समाज के किस भाग का था और अब समाज के उस भाग तथा आज की उस कुरीति का संशोधन किया जाय एवं कैसे उसका नया स्वरूप पुनः प्रचलित बनाया जाय ? विकृत रीतियों के दोष और भार को हटाकर समाज को समता के आदर्श पर प्रतिष्ठित करने की यही प्रक्रिया हो सकती है कि वर्तमान समय की आवश्यकता एवं विचारणा के अनुरूप सभी रीतिरिवाजों को नया रूप दिया जाय और जो रीतियां पूरे सड़े हुए फल की तरह बेकाम हो गई हों, वे खत्म कर दी जायं। परिवर्तन समय का धर्म होता है तथा यह परिवर्तन रीति–संशोधन में ही नहीं जीवन के सभी क्षेत्रों में समता के आदर्श पर आधारित होना चाहिए।

समता का आदर्श ही वह संजीवनी औषधि है जो आज के पतनशील परिवार, समाज और राष्ट्र में नव जीवन फूंक सकती है तथा प्रगतिशील आधारों पर इन इकाइयों का नव निर्माण किया जा सकता है। व्यक्ति, व्यक्ति के अन्तःकरण में समता का आदर्श जागना चाहिए, तभी उसकी सामूहिक विकासशीलता सभी सार्वजनिक क्षेत्रों में मुखरित हो सकेगी।

# प्राणहीन रूढ़ियों की गुलामी क्यों ?

यदि किसी व्यक्ति को आप किसी की मृत देह अपने कंधों पर हर समय ढोये हुए चलते देखें तो आप क्या सोचेंगे ? अलग-अलग विचार इस रूप में प्रकट हो सकते हैं कि यह उसकी बेदह मूर्खता है या उसका अतिशय मोह है या कि उसकी कोई छिपी हुई घोर कुटिलाई है। मूर्खता कहने वालों का तात्पर्य होगा कि सामान्य रूप से मृत देह का अन्तिम संस्कार नहीं करके जो उसे अपने कंधों पर ढोये हुए फिर रहा है, उसममें उसकी मस्तिष्क विकृति ही हो सकती है। मोह की बात भी बेवश मानी जा सकती है, लेकिन यह कुटिलाई की बात गहराई से जांचने और परखने की होती है। मृत देह को कंधों पर ढोते रहने में उसका भीतर का कोई मंतव्य है- यह चौंकाने वाली बात होती है उसकी निकृष्टता कि लाश के जरिये भी वह अपना कोई छिपा हुआ मतलब पूरा करना चाहता है।

जब आज समाज में इस तथ्य की समीक्षा की जाती है कि लोग प्राणहीन रूढ़ियों की गुलामी में क्यों पड़े हुए हैं तो कुछ-कुछ इसी विधि से सोचना पड़ता है कि वे मृत देह को अपने कंधों पर ढोकर क्यों चल रहें हैं ? यह अज्ञान भी हो सकता है तो किसी वर्ग का मायाचार भी। जो भी हो, वर्तमान रूढ़ियों के निवारण की भावना रखते हुए उनके आज भी टिके रहने के कारणों की पूरी समीक्षा तो आवश्यक ही है। इस समीक्षा से ही यह जाना जा सकेगा कि समाज के किन वर्गों का उस सम्बन्ध में फैला हुआ अज्ञान दूर करना होगा तो किन वर्गों के मायाचार के विरुद्ध संघर्ष भी करना पड़ेगा। अज्ञान या मोह तथा मायाचार दोनों के निवारण का कार्य सरल नहीं है। अतः जो लोग वर्तमान में प्रचलित रूढ़ियों को मिटाना चाहते हैं उन्हें पूरी सूझबूझ तथा त्याग-वृत्ति का परिचय देना होगा।

## कितना अज्ञान, कितना मायाचार ?

रूढ़ि को कुरूढ़ि कहने की जरूरत नहीं है क्योंकि 'कु' लगने पर ही रूढ़ि बनती है। जैसा कि आप समझ चुके होंगे कि जब उत्साह के साथ शुद्ध भावों की रक्षा के लिए किसी भी रीति का पालन किया जाता है और प्रचलन होता है तो उस रीति में सदभाव और सहयोग बना रहता है। किन्तु जब प्रकृति के काल प्रवाह और मनुष्य के स्वार्थ, ढोंग व आडम्बर से उस रीति को विकृत बना दिया जाता है, तब उसका पालन उत्साहहीन, प्राणहीन तथा दिशाहीन बन जाता है और वैसा पालन रूढ़ कहलाता है। विकृति रीति को इसी कारण रूढ़ि का नाम दे दिया जाता है।

रूढ़ि प्राणहीन इसलिए कहलाती है कि उसका पालन करने वाला व्यक्ति या समाज इस तथ्य को भुला देता है कि उस रीति के पालन का शुभ उद्देश्य क्या था ? आप सोचें कि सामायिक क्यों की जानी चाहिए ? उसका उद्देश्य है समता भाव को अपने अन्तःकरण में पैदा करना और पुष्ट बनाना ताकि वह भाव अपने पूरे जीवन के व्यवहार में फैले तथा दूसरे लोगों को भी अपनी शुभ्रता की ओर आकृष्ट बनावे। रोज आप सामायिक करें और इस उद्देश्य को बराबर ध्यान में रखें, तभी उद्देश्य प्राणवान बना रह सकता है और सामायिक की साधना की जीवन्त स्वरूप धारण किये हुए प्रचलित रह सकती है। अब इसी साधना के बारे में इतना अज्ञान हो या बन जाय कि मशीन की तरह सारी पाटियां गिन ले और निर्धारित समय तक बैठे रहें किन्तु यह न जानें कि इससे हमको मिलना क्या है तो आप भी सहमत होंगे कि सामायिक का वांछित लाभ तो नहीं मिलेगा किन्तु काल प्रवाह में यह भी कठिन हो सकता है कि इस सामायिक की साधना का स्वरूप भी शुद्ध बना रहे। जब धार्मिक क्रिया को भी रूढ़ बना सकते हैं तो सांसारिक रीति रूढि बन जाय—ऐसा उद्देश्य सम्बन्धी अज्ञान सामान्य जन में फैल ही सकता है। लेकिन वह स्थिति गम्भीरता से विचारणीय होती है, जब कोई व्यक्ति या वर्ग अपने स्वार्थ, ढोंग या आडम्बर को प्रभावी दिखाने के लिए किसी रीति की अच्छाई का गला घोंट कर उसे रूढ़ि बना देता है।

परिवर्तन की प्रक्रिया में ऐसी समीक्षा यह जानने के लिए जरूरी होती है कि किसी भी रूढि के विषय में सामान्य जन का अज्ञान कितना है तो किसी विशिष्ट वर्ग का मायाचार कितना ? इसी जानकारी के आधार पर प्राणहीन रूढ़ि के विरुद्ध सफल अभियान चलाया जा सकता है और क्रियाशील विद्रोह जगाया जा सकता है।

## दहेज की रूढ़ि पूरी मायाचारी

दहेज की रुढ़ि पूरी तरह से मायाचार के आधार पर ही बनी और चली है। विवाह गृहस्थ जीवन की एक रीति ही नहीं उसका संस्थागत स्वरूप माना जाता है। जैसे समाज में धन की समानता स्थापित करने के सम्बन्ध में कई विचारधाराएं बनीं तो उनका उद्देश्य रोटी की सुव्यस्था करने का था कि सभी मूलभूत आवश्यकताएं किसी तरह पूरी हों। समाज में जैसे रोटी की समस्या होती है, वैसे ही यौनाचार की भी समस्या होती है कि उसकी भी सुव्यवस्था हो जिससे समाज में दुराचारी वृत्ति, नारी यातना या ऐसे ही अन्य कुकृत्य न फैले। यौनाचार को सुव्यवस्थित बनाने की साधन है विवाह की संस्था। विवाह एक युवक और एक युवती के बीच ऐसा बन्धन होता है जो जीवन पर्यन्त निभाया जाता है। विवाह की सार्थकता धर्मपूर्वक काम में मानी गई है जिसमें दोनों पक्ष समान योग्यता, विवेक और शक्ति वाले हों तथा स्वेच्छा से नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए परस्पर जुड़ें। इस अनुष्ठान में न तो लकड़ी के बिकने और न लकड़े के बिकने का सवाल पैदा होता है और न ही किसी का मूल्य उगाहने का। यह निर्णय भी सम्बन्धित युवक एवं युवती का स्वयं का ही होना चाहिए, किन्तु हितैषिता की दृष्टि से निर्णय का भार माता-पिता ने सम्भाला। माता-पिता का दायित्व था कि दोनों के पारस्परिक हित मान को देख कर ही सम्बन्ध कररना चाहिए। लेकिन वे अपने लाभ, मान या लोभ के चक्कर में पड़ने लगे और इस चक्कर को कामयाब बनाने के लिए मायाचार आवश्यक हो गया।

यहीं से विवाह रूढ़ि में बदलने लगा और दहेज उसका मुख्य मायाचार हो गया। लड़की वाला घर बारात लेकर आये लड़के को नारियल भेंट कर मिलनी में उनका मान करे और आत्यि सत्कार करे यह तो ठीक, लेकिन लड़के वाला दहेज की मांगणी करे और लड़की वाला हैसियत हो तो अलग बात लेकिन दहेज देने के लिए मजबूर हो-यह रूढ़िगत मायाचार ही कहलायगा। दहेज का रूप भी धीरे-धीरे विकराल होता चला गया है। लालची मां-बाप अपने बेटों की बोटी-बोटी का दाम उगाहने लगे हैं-आज दहेज की ऐसी दशा सामने आ गई है।

इसी दहेज की राक्षसी वृत्ति का कुफल है कि जगह-जगह दहेज अधिक से अधिक लाने के लिए बहुओं को यातनाएं दी जाती हैं या जलाकर मार दिया जाता है। दहेज देने से मजबूर मां बाप बड़ी आयु हो जाने तक

## कितना अज्ञान, कितना मायाचार ?

रूढ़ि को कुरूढ़ि कहने की जरूरत नहीं है क्योंकि 'कु' लगने पर ही रूढ़ि बनती है। जैसा कि आप समझ चुके होंगे कि जब उत्साह के साथ शुद्ध भावों की रक्षा के लिए किसी भी रीति का पालन किया जाता है और प्रचलन होता है तो उस रीति में सदभाव और सहयोग बना रहता है। किन्तु जब प्रकृति के काल प्रवाह और मनुष्य के स्वार्थ, ढोंग व आडम्बर से उस रीति को विकृत बना दिया जाता है, तब उसका पालन उत्साहहीन, प्राणहीन तथा दिशाहीन बन जाता है और वैसा पालन रूढ़ कहलाता है। विकृति रीति को इसी कारण रूढ़ि का नाम दे दिया जाता है।

रूढ़ि प्राणहीन इसलिए कहलाती है कि उसका पालन करने वाला व्यक्ति या समाज इस तथ्य को भुला देता है कि उस रीति के पालन का शुभ उद्देश्य क्या था ? आप सोचें कि सामायिक क्यों की जानी चाहिए ? उसका उद्देश्य है समता भाव को अपने अन्तःकरण में पैदा करना और पुष्ट बनाना ताकि वह भाव अपने पूरे जीवन के व्यवहार में फैले तथा दूसरे लोगों को भी अपनी शुभ्रता की ओर आकृष्ट बनावे। रोज आप सामायिक करें और इस उद्देश्य को बराबर ध्यान में रखें, तभी उद्देश्य प्राणवान बना रह सकता है और सामायिक की साधना की जीवन्त स्वरूप धारण किये हुए प्रचलित रह सकती है। अब इसी साधना के बारे में इतना अज्ञान हो या बन जाय कि मशीन की तरह सारी पाटियां गिन ले और निर्धारित समय तक बैठे रहें किन्तु यह न जानें कि इससे हमको मिलना क्या है तो आप भी सहमत होंगे कि सामायिक का वांछित लाभ तो नहीं मिलेगा किन्तु काल प्रवाह में यह भी कठिन हो सकता है कि इस सामायिक की साधना का स्वरूप भी शुद्ध बना रहे। जब धार्मिक क्रिया को भी रूढ़ बना सकते हैं तो सांसारिक रीति रूढ़ि बन जाय–ऐसा उद्देश्य सम्बन्धी अज्ञान सामान्य जन में फैल ही सकता है। लेकिन वह स्थिति गम्भीरता से विचारणीय होती है, जब कोई व्यक्ति या वर्ग अपने स्वार्थ, ढोंग या आडम्बर को प्रभावी दिखाने के लिए किसी रीति की अच्छाई का गला घोंट कर उसे रूढ़ि बना देता है।

परिवर्तन की प्रक्रिया में ऐसी समीक्षा यह जानने के लिए जरूरी होती है कि किसी भी रूढ़ि के विषय में सामान्य जन का अज्ञान कितना है तो किसी विशिष्ट वर्ग का मायाचार कितना ? इसी जानकारी के आधार पर प्राणहीन रूढ़ि के विरुद्ध सफल अभियान चलाया जा सकता है और क्रियाशील विद्रोह जगाया जा सकता है।

## दहेज की रूढ़ि पूरी मायाचारी

दहेज की रूढ़ि पूरी तरह से मायाचार के आधार पर ही बनी और चली है। विवाह गृहस्थ जीवन की एक रीति ही नहीं उसका संस्थागत स्वरूप माना जाता है। जैसे समाज में धन की समानता स्थापित करने के सम्बन्ध में कई विचारधाराएं बनीं तो उनका उद्देश्य रोटी की सुव्यवस्था करने का था कि सभी मूलभूत आवश्यकताएं किसी तरह पूरी हों। समाज में जैसे रोटी की समस्या होती है, वैसे ही यौनाचार की भी समस्या होती है कि उसकी भी सुव्यवस्था हो जिससे समाज में दुराचारी वृत्ति, नारी यातना या ऐसे ही अन्य कुकृत्य न फैले। यौनाचार को सुव्यवस्थित बनाने की साधन है विवाह की संस्था। विवाह एक युवक और एक युवती के बीच ऐसा बन्धन होता है जो जीवन पर्यन्त निभाया जाता है। विवाह की सार्थकता धर्मपूर्वक काम में मानी गई है जिसमें दोनों पक्ष समान योग्यता, विवेक और शक्ति वाले हों तथा स्वेच्छा से नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए परस्पर जुड़ें। इस अनुष्ठान में न तो लड़की के बिकने और न लड़के के बिकने का सवाल पैदा होता है और न ही किसी का मूल्य उगाहने का। यह निर्णय भी सम्बन्धित युवक एवं युवती का स्वयं का ही होना चाहिए, किन्तु हितैषिता की दृष्टि से निर्णय का भार माता-पिता ने सम्भाला। माता-पिता का दायित्व था कि दोनों के पारस्परिक हित मात्र को देख कर ही सम्बन्ध कररना चाहिए। लेकिन वे अपने लाभ, मान या लोभ के चक्कर में पड़ने लगे और इस चक्कर को कामयाब बनाने के लिए मायाचार आवश्यक हो गया।

यहीं से विवाह रूढ़ि में बदलने लगा और दहेज उसका मुख्य मायाचार हो गया। लड़की वाला घर बारात लेकर आये लड़के को नारियल भेंट कर मिलनी में उनका मान करें और आतिथ्य सत्कार करे यह तो ठीक, लेकिन लड़के वाला दहेज की मांगणी करे और लड़की वाला हैसियत हो तो अलग बात लेकिन दहेज देने के लिए मजबूर हो—वह रूढ़िगत मायाचार ही कहलायगा। दहेज का रूप भी धीरे-धीरे विकराल होता चला गया है। लालची मां-बाप अपने बेटों की बोटी-बोटी का दाम उगाहने लगे हैं—आज दहेज की ऐसी दशा सामने आ गई है।

इसी दहेज की राक्षसी वृत्ति का कुफल है कि जगह-जगह दहेज अधिक से अधिक लाने के लिए बहुओं को यातनाएं दी जाती है या जलाकर मार दिया जाता है। दहेज देने में मजबूर मां बाप कहीं आधु हो जाने तक

अपनी बेटियों को ब्याह नहीं सकते हैं और उनको तरह-तरह के अपराधों तथा संत्रासों का शिकार होना पड़ता है। कई कुमारिकाएं उस कारण आत्म हत्याएं कर लेती है कि उनके माता-पिता अपनी मजबूरी में छटपटा रहे हैं। इतनी दुःख दुविधा के बाद में भी लड़के वाले और पैसे वाले इस रूढ़ि को पकड़े रहें-यह उनका मायाचार ही तो है-माया को नहीं छोड़ सकते चाहे कइयों के प्राण छूटते चले जाय। किसी ने मुझे बताया था कि गत एक वर्ष में केवल दिल्ली में ही साढे तीन सौ के करीब बहुएँ दहेज के कारण जला कर मार डाली गई।

क्या ऐसी राक्षसी रूढ़ि को एक पल के लिए भी सहन किया जा सकता है ? फिर भी जो इसे जकड़े हुए हैं क्या उन्हें सही नजर से देखा जा सकता है ? अब तो विवाह योग्य युवा-युवतियों को ही आगे आकर इस रूढ़ि को तेजी से समाप्त करना चाहिये। आगे जाकर माता-पिता का विरोध भी झेलना नहीं पड़े, इसके लिए मेरा सुझाव है कि आप सब युवक-युवतियां प्रतिज्ञा करें दहेज नहीं स्वीकार करने की और दहेज की बात हो तो वहां विवाह नहीं रचाने की। ऐसा विद्रोह जरूरी है।

## भोजों की भयंकरता को मिटावें

भोज तो सबको प्रिय लगता है, फिर वह भयंकर कैसे हो सकता है ? किन्तु होता है और उसकी भयंकरता समझ कर छोड़ने लायक है।

पहला भयंकर भोज है मृत्यु भोज। किसी के घर कोई मर जाय और उसके घर पर माल उड़ाने का इन्तजाम हो-कितनी शर्म की बात है। आपके घर में कोई बीमार हो-वह व्यथा से तड़प रहा हो और आपको उस बीमार के सामने माल मिठाइयां उड़ाने के लिए दें तो क्या मिठाई आप खा सकेंगे ? कोई नहीं कहेगा कि वह खा सकता है। फिर जिस घर से अभी-अभी लाश उठी हो, परिवारजनों के आंसू अभी भी बह रहे हों और अभी भी उदासी और गमी की दशा बनी हुई हो, वहां जाकर मृत्युभोज के रूप में लाल मिठाइयां उड़ावें-क्या इसमें भी राक्षसी वृत्ति की झलक नहीं है ? फिर ऐसा भोज भयंकर भोज कहलायगा या नहीं। झूठी प्रतिष्ठा के नाम पर जो अब तक भी इस रूढ़ि को नहीं छोड रहे हैं, उन्हें अपने विवेक को जगाना चाहिये और उन्हें ही नहीं, बल्कि उनके वहां के संघ, समाज या कि जाति को मृत्यु भोजों पर प्रतिबन्ध लगाने की प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। यह रूढ़ि अब और कतई नहीं चलनी चाहिए।

फिर भयंकर भोज होता है वह भोज, जिस में खुल कर अपने धन और आडम्बर का प्रदर्शन किया जाता है। एक ओर करोड़ों गरीब ऐसे हैं जिन्हें एक समय का पूरा भोजन भी सुलभ नहीं होता है, वहां हजारो आमंत्रितों के भोज आयोजित किये जायं, उनकी तैयारी पर हजारों रुपये खर्च किये जायं तथा धन-धान्य की बरबादी की जाय—यह मानवता के विरुद्ध होगा। समारोहों को सादे तरीकों से भी मना सकते हैं। समाज में चरित्र की अपेक्षा धन को जो प्रतिष्ठा मिली हुई है, उसी का यह दुष्परिणाम निकलता है कि अपने धन का प्रदर्शन करने और उसके बल पर विशेष प्रतिष्ठा अर्जित करने की कुटिलता सफल बनती है। ऐसे आडम्बरपूर्ण भोज या कि खर्चीली तैयारी चाहे विवाहों के अवसर पर हो या अन्य मौकों पर—वह व्यक्तिगत विकारों तथा सामाजिक दुर्व्यवस्था को बढ़ाने वाली होती है। नव धनाढ्यों के इस धनाडम्बर-प्रदर्शन के पीछे कितने मध्यम परिवारों को खून के घूंट पीने पड़ते हैं— क्या इसका कोई हिसाब भी लगाता है ?

आजकल सुना जाता है कि ऐसे भयंकर भोज भी होने लगे हैं जिनमें मांसाहार परोसा जाता है। विवाह शादी के प्रसंग पर ऐश्वर्य को दिखाने की मदोन्मत्त भावना से बारात मांसाहारी होटलों में ठहराई जाती है और खानपान की व्यवस्था भी वहीं पर की जाती है। इसलिये यह प्रतिज्ञा ली जानी चाहिए कि मांसाहारी होटलों में न स्वयं ठहरें, न अपने मेहमानों को या बारातों का ठहरावें।

## आडम्बर से रंगी हुई रूढ़ियाँ

लोभ से लाभ और लाभ से लोभ— यह धनार्जन के तरीकों को भी बिगाडता रहता है तो लाभी-लोभी व्यक्ति के आचरण को भी बिगाड़ कर बरबाद कर देता है। फिर आज के जमाने के मुताबिक यह लाभ दो नम्बर से बेशुमार होता हो तो उस धन के मद का कहना ही क्या ? वह तो व्यक्ति को विवेकहीन बना कर उन्मत्त कर देता है। आडम्बर से रंगी हुई सारी रूढियां इसी उन्माद का दुष्परिणाम है।

शादी विवाह के प्रसंग पर भौंडे तरीको से नाचना, बैंड बाजो पर पैसा बर्बाद करना, हिंसाकारी आतिशबाजी छोडना और बेशकीमती डेकोरेशन करना—यह सब नव धनाढ्यों को अपनी धन सम्पत्ति का प्रदर्शन करने के लिए प्रिय लगता है किन्तु वे यह नही सोचते कि अपने लाखों गरीब एवं मध्यम श्रेणी के भाइयों पर उसका कितना बुरा प्रभाव पडता है तथा समाज में विषमता की

कैसी घातक दीवारें खड़ी होती हैं ? जैसे दहेज का प्रदर्शन कम सम्पन्न लोगों को मुसीबत में डालता है वैसे ही आडम्बर से रंगी हुई ये सारी रूढ़ियां भी उनकी मुसीबत को बुरी तरह से बढ़ा देती हैं।

## रूढ़ियों की पकड़, मन की गुलामी

रूढ़ियों की घातक बुराइयों को जानकर तथा उनके दुष्परिणामों को प्रत्यक्ष में देखकर भी यदि रूढ़ियों से पकड़ बनाए रखते हैं तो वह आपके मन की गुलामी ही होगी। मन इसलिए गुलाम बना रहना चाहता है कि आप इन रूढ़ियों से फिर भी फायदा उठाना चाहते हैं याने दहेज कमाना चाहते हैं अथवा अपने धन–ऐश्वर्य की झूठी छाप समाज पर डाले रखना चाहते हैं अथवा अपने भीतर वैसा साहस पैदा नहीं कर पाते हैं कि इन रूढ़ियों के निहित स्वार्थियों से संघर्ष कर सकें और रूढ़ियों को मिटा कर रहें। मन की गुलामी का यह भी कारण हो सकता है कि आपके सुधारवादी आन्दोलनों को पूरा समर्थन न मिले या कि विरोध भी झेलना पड़े। इन्हीं रूढ़ियों के शिकार गरीब और मध्यम वर्ग के मन की गुलामी उनकी ज्ञानहीनता और असहायता में छिपी हुई रहती है। जो भी हो, रूढ़ियों की पकड़ निश्चित रूप से मन की गुलामी में है और मन की इस गुलामी को हटाये बिना रूढ़ियों को भी मिटाया नहीं जा सकेगा। मृत देह को कंधों पर ढोते रहने के समान इन रूढ़ियों का बोझा भी मन का गुलाम ही ढो सकता है।

मन की ऐसी गुलामी को खत्म कैसे करें ? इस गुलामी के कीटाणु सोचने के तरीकों में घुसे और फैले हुए हैं। एक मध्यम वर्ग का सद्गृहस्थ सोचता है कि वह एक रूढ़ि को कैसे तोड़े–समाज के ताकतवर लोग उसकी गरीबी का मजाब उड़ाकर उसे बदनाम कर देंगे। एक नवधनाढ्य सोचता है कि इन रूढ़ियों के जरिए वह सारे समाज को अपने वर्चस्व से प्रभावित एवं आतंकित बना सकता है कि उसका धन कुछ भी खरीद और बेच सकता है–किसी को भी नामवर या बदनाम बना सकता है। उसका मन अपने लोभ, अपने मान और अपनी माया की गुलामी में होता है। अपने–अपने उपायों से सभी वर्गों के मन की गुलामी दूर करनी होगी।

## प्राणहीन रूढ़ियों का केवल त्याग

सजग व्यक्तियों को चाहिए कि वे रूढियों के गुलाम न रहकर उन कार्यों को त्यागें, जो अनुचित, हानिप्रद और निरर्थक हैं। रूढियां प्राणहीन ही होती हैं मृत शरीरों की तरह–जिनमें फिर से प्राण नहीं डाले जा सकते हैं। इस

कारण प्राणहीन रूढ़ियों का केवल त्याग ही करना होगा। प्राणहीन रूढ़ियों की गुलामी किसी भी रूप में बुद्धिमानी या कि सद्बुद्धि का परिचय नहीं होती है। अतः इन रूढ़ियों को जल्दी से जल्दी छोड़ कर अपनी चाल और समाज के चलन को शुद्ध बनाइये।

# 3

## मानवीय मूल्यों का हनन या संवहन ?

समय अपनी गति से बहता रहता है, किन्तु उसकी वह गति एक-सी नहीं रहती है। उसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन समय तक ही सीमित नहीं रहते हैं, अपितु वे सम्पूर्ण मानव जाति को अपने-अपने क्षेत्रीय दबावों के साथ प्रभावित बनाते रहते हैं। यह प्रभाव प्रगति सूचक भी होता है। इसी प्रभाव के कारण पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी की वैचारिकता में भी अन्तर आता है, जिससे उनके दृष्टिकोण में नवीनता के तत्त्व समाविष्ट होते हैं। यह दृष्टिकोण में नवीनता के तत्त्व समाविष्ट होते हैं। यह दृष्टिकोण दोनों पीढ़ियों के अन्तर्विरोध को भी उजागर करता है।

समय के साथ समग्र वातावरण में ये अन्तर्विरोध स्पष्ट होते रहते हैं और जिस रीति नीति से ये अन्तर्विरोध सुलझते रहते हैं, उतना ही दोनों पीढ़ियों के संबंधों में समन्वय और सामंजस्य समाहित होता रहता है। इसके विपरीत यदि दोनों पीढ़ियों के दृष्टिकोणों में सामंजस्य नहीं लाया जा सके तो आपसी टकराव बढता जाता है, जिसके कारण नई पीढ़ी का पुरानी पीढ़ी के प्रति आक्रोश और विद्रोह भी भड़कता जाता है।

नई पीढ़ी का यह आक्रोध और विद्रोह अधिकतर पुरानी पीढ़ी की रीति नीति से सम्बन्धित होता है जिसके साथ नई पीढ़ी अपना तालमेल नहीं बिठा पाती है। दोनों पीढ़ियों में समन्वय का सम्बन्ध तभी बैठ सकता है, जब दोनों पीढ़ियों के बीच में एक अव्यक्त समझौते का भाव विद्यमान रहता है। समझौता इस रूप में कि पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी के पनपते हुए दृष्टिकोण को समझे और अपनी रीति-नीति के प्रति उनकी सहमति-असहमति को तोले तथा दोनों के दृष्टिकोणों में एकता लाने का प्रयास करें। इसमें पुरानी पीढ़ी की सूझबूझ भी

चाहिये तो हृदय की उदारता भी। वे हठवादी नहीं बनें और वांछित परिवर्तनों को स्वीकार करें।

इस सहज परिवर्तन में संस्कारों का बहुत बड़ा असर होता है, जो दोनों पीढियों के बीच में कटुता और विषमता को पैदा होने तथा बढ़ने से रोकता है। समय के इन परिवर्तनों के मध्य भी इन संस्कारों की एकरूपता समन्वय के सूत्र पिरोती रहती हैं। ये संस्कार जितने अधिक श्रेष्ठ होते हैं तथा परम्परा में ढलते हुए अपनी श्रेष्ठता बनाये रखते हैं तो उनके प्रभाव से एक ओर पुरानी पीढ़ी का श्रेष्ठ प्रभाव नई पीढ़ी को घेरे रखता है तो दूसरी ओर नई पीढ़ी भी विवेकशील बनकर पुरानी पीढ़ी के सहज सम्मान को बनाये रखती है। तब वह युग-परिवर्तन भी सहज एवं स्वाभाविक रूप से घट जाता है और दोनों पीढ़ियों की रीति-नीति समय का सन्तुलन निभाते हुए व्यक्तिगत एवं सामाजिक प्रगति की राह पर पल्लवित एवं पुष्पित होती रहती है।

यही सामयिक प्रभावशीलता सामाजिक रीति-रिवाजों पर भी लागू होती है। काल प्रवाह और समाज में किन्हीं व्यक्तियों अथवा वर्गो की स्वार्थपरता के कारण ज्यों-ज्यों रीति-रिवाजों में प्रदूषण पैदा हों और उन्हें यथा समय दूर करते रहें तो समन्वय की कडी टूटती नहीं है। किन्तु यदि उन रीति-रिवाजों में मानवीय मूल्यों का ह्रास होता रहे और वातावरण प्रदूषित बनता रहे तब भी पुरानी पीढी अपने हठाग्रह के कारण कानों में तेल डाले बैठी रहे तथा नई पीढी आन्दोलित रहे तो इससे नई पीढी का आक्रोश और विद्रोह ही बढ़ता है। इस कारण मानवीय मूल्यों के निरंतर संवहन को ध्यान में रखते हुए समुचित परिवर्तनो को सहज रूप से स्वीकार करने में पुरानी पीढी को कोई संकोच नहीं करना चाहिये तथा नई पीढ़ी को भी आदरपूर्वक पुरानी पीढी के हृदय परिवर्तन का प्रयास करना चाहिये।

## मानवीय मूल्यों का हनन रोका जाय

इस दृष्टिकोण के प्रति दोनों पीढियों में एकता होनी चाहिये कि मानवीय मूल्यों के हनन को सदा और सर्वत्र रोका जाय। कोई भी रीति-रिवाज ऐसी शक्ल न लेने पाये कि जिससे उसकी मानवीय गुणवत्ता नष्ट होती हो। किसी भी सामाजिक दृष्टिकोण की महत्ता का यही अभिप्राय हो सकता है कि उसके सदस्यों की पारस्परिक व्यवहार प्रणाली में एक दूसरे का पूरा ख्याल रखने की भावना में कमी नहीं आवे, क्योंकि एक दूसरे का अपने से भी बढ़कर ख्याल रखने में ही मानवीयता का समावेश होता है और उन सारे मूल्यों का

सवहन, जो प्रत्येक की सुरक्षितता और शान्ति के रखवाले होते हैं।

मानवीय मूल्यों का निर्माण एक सरल प्रक्रिया नहीं होती है। कोई भी पीढी पहले अपने सदाचरण का निर्माण करती है और अपने जीवन के समस्त क्रियाकलापों में उसे बनाये रखती है। तब एक सामान्य धारणा का निर्माण होता है कि पारस्परिक सद्व्यवहार की घनिष्ठता व्यक्ति के विकास को भी प्रोत्साहित करती है तो उस सहृदय सामाजिकता का भी विकास करती है जो पग-पग पर व्यक्ति के विकास को पुष्ट बनाती है। यही धारणा उन संस्कारों का निर्माण करती है, जो समाज के सभी सदस्यों के दिल और दिमाग को समान धरातल पर रखकर आपस में जोड़ती है। इस प्रकार जब एक पीढ़ी के विचार, वचन और व्यवहार में एकरूपता ढल जाती है तो वही एकरूपता संस्कार का रूप धारण कर अगली या नई पीढ़ी में समाविष्ट होती जाती है। ऐसे संस्कार जब सत्संस्कार होते हैं तो वे सत्संस्कार मानवीय मूल्यों का निर्माण करते हैं जो एक से दूसरे पीढ़ी में सतत रूप से प्रवाहित होते रहते हैं तथा ये मानवीय मूल्य रक्त प्रवाह और आत्म प्रवाह में निरन्तर आगे से आगे समुन्नत होते रहते हैं।

सजगता की यहीं पर आवश्यकता होती है कि मानवीय मूल्यों के इस प्रवाह में जिस किसी रीति-नीति से विकृतियां प्रवेश करती हों उन छिद्रों को रोका जाय और कोई विकृतियां प्रवाह को दूषित बनाने लग गई हों तो उस दूषण से प्रवाह को शीघ्रातिशीघ्र मुक्त किया जाय। यह सजगता प्रत्येक व्यक्ति की भी होनी चाहिए तथा उससे भी बढ़कर सारे समाज की होनी चाहिये। तभी मानवीय मूल्यों के हनन को रोका जा सकता है।

## आर्थिक विषमता और कुरीतियों का बोझ

समाज में फैलने वाली सभी प्रकार की विषमताएं कुरीतियों के विस्तार की दोषी होती हैं। किन्तु आर्थिक विषमता का दोष सबसे बड़ा और सबसे ज्यादा जहरीला दिखाई देता है। आर्थिक विषमता के कारण समाज के सभी सदस्यों के बीच रहने योग्य समानता कई प्रकारों से टूटती जाती है। आर्थिक विषमता से जीवन निर्वाह के साधनों तथा उनसे रहन-सहन में अन्तर आता है जो सम्पन्न एवं अभाव ग्रस्त वर्गों के सोचने-समझने तथा बर्ताव करने के तरीकों में भी अन्तर ले आता है। यह विषमता इस तरह ऐसे दो अलग-अलग वर्ग खड़े कर देती है जिनका पारस्परिक समन्वय एवं सन्तुलन घटते-घटते मिटता जाता है तथा दोनों वर्गों की जीवन पद्धतियां अधिक से अधिक भिन्नता

ग्रहण करती रहती हैं।

इसी प्रक्रिया में संस्कारों में अन्तर आता है तो ज्ञान–विज्ञान का स्तर भी भिन्न होता जाता है। इसी क्रम में रीति–रिवाजों की समानता भी नष्ट होने लगती है। सम्पन्न वर्ग अपनी आर्थिक हैसियत को महसूस करते हुए रीति–रिवाजों में धन के पैमानों को बढ़ाता जाता है, जिसे अभावग्रस्त वर्ग निबाह नहीं पाता है और विवशता एवं हताशा के हीन भावों से ग्रस्त होता जाता है। वे ही सामाजिक रीति–रिवाज जो केवल सत्कार के प्रतीक होते थे, धन के बोझ के नीचे दबाये जाने लगते हैं। आप जानते हैं कि जब किसी लड़की वाले के घर पर लड़के वाले की बारात पहुंचती है तो संमेला और मिलनी का आयोजन होता है। क्या आशय होता है इस आयोजन का ? मूल में तो यही होता है कि घर आये मेहमानों का सत्कार किया जाय तथा समधियों का परस्पर परिचय एवं मिलन हो। इस सत्कार और मिलन का प्रतीक बनाया जाता है नारियल को जिसे मांगलिक रूप से श्रीफल कहते हैं। श्रीफल के माध्यम से भावनात्मक संबंध विस्तृत रूप से जोड़ा जाता है। ऐसे सादे रिवाज को समाज के छोटे बड़े सभी सदस्य सुखपूर्वक निबाह सकते हैं तथा सौहार्द्र की भावना को भी मजबूत बना सकते हैं। उसके साथ सामाजिक समानता का सुखदायक स्तर भी बना रहता है।

फिर जब आर्थिक विषमता का यह जहरीला असर सामने आता है कि सत्कार और मिलन के प्रतीक श्रीफल का महत्व घटाकर उसे रुपयों से तोलना शुरू कर देते हैं। तब होड़ लग जाती है और यह विषय चर्चा का बन जाता है कि किसने अपनी मिलनी कितनी बड़ी राशि के साथ की ? राशि बडी हो जाती है और श्रीफल छोटा याने कि मानवीय मूल्य छोटे हो जाते हैं। रीति–रिवाजों का यह तो एक उदाहरण है। आप छोटे से छोटे एक–एक रीति–रिवाज की इसी प्रकार से समीक्षा करके देखें तो आपको मालूम होगा कि आर्थिक विषमता किस प्रकार गरीबों को विकृत रीति–रिवाजों के भारी बोझ के नीचे दबा देती है और इस प्रकार मानवीय मूल्यों का हनन होता रहता है।

## रीतियां कुरीतियां बनती हैं दंभ व पाखंड के कारण

लोग मौज–शौक, भोग–विलास, आमोद–प्रमोद, दंभ, पाखंड और प्रदर्शन का त्याग कर दें तो गरीबों को अपने बोझ से हल्का कर सकते हैं। साथ ही अपने जीवन को भी अभ्युदय के पथ पर अग्रसर कर सकते हैं।

मानवीय मूल्यों का संवहन कमजोर बनता है, तभी कुछ लोग धन सम्पत्ति या सत्ता के सुख साधन मिल जाने पर सारे समाज के प्रति बेपरवाह हो जाते हैं और दूसरों के दुःख सुख को भूलकर अपने ही मौज-शौक व भोग विलास में बेमानी से डूबने लगते हैं। इस उन्माद में वे अपने सामाजिक दायित्व को भूल जाते हैं और यह भी भूल जाते हैं कि उनके इस विषम जीवन का समाज के निम्न वर्गों के लोगों पर कैसा कुप्रभाव पड़ेगा ? वे अपने आमोद-प्रमोद में खो जाते हैं किन्तु गरीब लोग अपने अभावों में तड़पते रहते हैं। इस तरह सामाजिक विषमता की खाई चौड़ी होती रहती है। इस पर भी ये लोग जिस रूप में अपने दंभ, पाखंड और आडम्बर का प्रदर्शन करते हैं तथा उसमें धन को माथे पर चढ़ाते हैं, वह समाज के शेष वर्गों के हितों की दृष्टि से घातक हो जाता है। यह प्रदर्शन मानवीय मूल्यों का ह्रास करता रहता है जिनके स्थान पर धन की प्रभुता के पट चढ़ते जाते हैं और समाज में मानवीय सद्‌गुणों के स्थान पर धन, सम्पत्ति, सत्ता आदि प्रतिष्ठा के माध्यम बन जाते हैं। फिर इसी प्रतिष्ठा के लिये भागमभाग, दौड़-धूप और आपाधापी होती है जिसमें गरीब लोग बुरी तरह से पिछड़ जाते हैं।

सच पूछो तो धनपतियों का दंभ, पाखंड और आडम्बर प्रदर्शन ही मुख्य रूप से दोषी होते हैं जिनके कारण समता की द्योतक रीतियां विकृत होकर कुरीतियों का रूप लेती हैं तथा गरीबों के लिये मारक बोझ बन जाती हैं। इसी कारण ये लोग अपना मौज-शौक और भोग-विलास छोड़ें तथा दंभ-पाखंड भी छोड़ें तो न सिर्फ गरीबों के दिल दिमाग पर चढ़ा हुआ कुरीतियों का भार ही हल्का होगा अपितु इन त्यागी लोगों का जीवन भी सुधर जायगा। इनके त्याग को नई प्रतिष्ठा मिलेगी और फिर से इनके प्रति गरीब वर्ग में सद्‌भावना जागेगी। इसका सुफल यह निकलेगा कि फिर से समाज में समता मूलक भावनाओं का प्रसार होगा तथा मानवीय मूल्यों की शुभता फिर से प्रकट होगी।

## कुरीतियां और महिलाओं का विशेष दायित्व

रीतियों को पनपाने और चलाने के बारे में महिलाओं का विशेष योग होता है तो उन्हें इसे भी अपना विशेष दायित्व मानना चाहिये कि रीतियां कुरीतियां क्यों बनती गई तथा कुरीतियों का पुनः निवारण कैसे किया जाय ? यही नहीं, महिलायें यदि संकल्प ले लें तो अपने पतियों और परिवारों को भी बदल सकती हैं, जो मौज-शौक, भोग-विलास, आमोद-प्रमोद तथा दंभ, पाखंड एवं आडम्बर प्रदर्शन में ही अपने अमूल्य जीवन की सार्थकता मानकर

उसे निर्मूल्य बना रहे हैं। जहां तक घर के अन्दरूनी संचालन का सवाल है, अवश्य ही महिलाओं को पूरी चलती होगी या अपने कुशल व्यवहार से वे अपनी चला सकती हैं और रीतियों को कुरीतियां बनाने की प्रक्रिया मुख्य रूप से घरों में ही चलती है। इस कारण कुरीति-निवारण के पहले प्रयास घर से ही प्रारंभ होने चाहिये। यही महिलाओं का विशेष दायित्व माना जाना चाहिये।

समाज की प्रबुद्ध महिलाएं पहले स्वयं अपने घरों में कुरीतियों को समाप्त करने का अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करें तथा फिर दूसरों को कुरीतियों की बुराइयों के बारे में विस्तार से बतावें और घर घर में कुरीति-निवारण का जोरदार अभियान चलावें तो कुरीतियों को मिटा देने और मानवीय मूल्यों को पुनर्प्रतिष्ठित करने का काम आसान हो जायगा। महिलाएं आज अपने इस विशेष दायित्व को समझें तथा कार्य क्षेत्र में उतरें।

## सामान्य जीवन के अभ्युदय का प्रश्न

यह समाज मानव-शरीर के समान होता है। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों एवं अवयवों के समान समाज में भिन्न-भिन्न वर्ग अपने कार्य करते रहते हैं। शरीर के सभी अंग तभी अपना काम भली प्रकार कर सकते हैं जब सबको समान रूप से खान-पान मिले और रक्त-संचार पहुंचे। शरीर स्वस्थ भी तभी कहलाता है जब इसके सभी अंगों और अवयवों का अपनी-अपनी आवश्यकता एवं कार्य-प्रणाली के अनुसार विकास होता रहे। किसी भी एक अंग विशेष विकास शरीर के लिये सुखकारी नहीं होता है। ऐसे विशेष विकास को रोग कहते हैं। इसी तुलना में समाज को लीजिये।

समाज के सभी वर्ग जब तक आवश्यकता एवं समानता के अनुरूप पोषित होते हैं, तब तक सारा समाज स्वस्थ बना रहता है। किन्तु यदि उसका एक अंग विशेष रूप से धन सम्पत्ति, सत्ता आदि के माध्यम से विकसित हो जाता है तो वह समाज का रोग कहलाता है, जो सारे समाज एवं सामान्य रूप से समाज के सभी सदस्यों के लिये पीड़ादायक ही बनता है। अतः समाज के सामने सदा सभी सदस्यो एवं सभी वर्गों के सामान्य जीवन के अभ्युदय का प्रश्न ही रहना चाहिये और उसी को सुलझाने के सामूहिक उपक्रम चलते रहने चाहिये। इसी प्रयास से कुरीतियों का निवारण, सही रीतियों का प्रचलन तथा मानवीय मूल्यों का संवहन चलता रह सकता है।

★

## सामायिक

卐 जैसे पृथ्वी के आधार बिना कोई वस्तु टिक नहीं सकती वैसे ही सामायिक का आश्रय पाये बिना दूसरे गुण टिक नहीं सकते।

卐 जैसे सैनिक बन्दूक या तीर चलाना एक ही साथ नहीं सीख लेता, विद्यार्थी एक ही दिन में किसी डिग्री को प्राप्त नहीं कर लेता पर वह सावधान होकर एकाग्र भाव से सतत् अभ्यास करता रहता है। इसी प्रकार जीवन-सिद्धि का लक्ष्य सिद्ध करने के लिए समभाव का अभ्यास करते रहना चाहिए।

卐 समभाव के बिना संसार नरक के समान है। उसके अभाव में जीवन अस्थिर, अशान्त, क्लेशमय और संतापयुक्त बनता है। जीवन में जितनी मात्रा में समभाव की वृद्धि होगी, उतनी ही मात्रा में सुख में वृद्धि होगी।

# सद्गुणों का मूलाधार : सामायिक

सूत्रकृतांग सूत्र का पवित्र वचन है–

"ते आत्तओ पासेई सव्वलोए" (1–2–98)

अर्थात् तत्त्वदर्शी समग्र प्राणि जगत को अपनी आत्मा के समान देखता है।

आत्मीय समानता का यह सूत्र समग्र दर्शनशास्त्र का प्राणस्वरूप है। जो आत्मीय समानता में आस्था नहीं रखता है, वह तत्त्वदर्शी कभी नहीं हो सकता है। सम्पूर्ण लोक की सभी आत्माएं अपनी आत्मा के समान हैं– यह विश्वास सकल ज्ञान, तत्त्व एवं दर्शन का आधार स्तंभ है।

अपने मूल स्वरूप में सभी आत्माएं ज्ञानियों ने अपने अनन्त ज्ञान में समान देखी हैं। इन सभी आत्माओं मे न सिर्फ संसार में रही हुई आत्माओं का ही समावेश है, अपितु सिद्धात्माओं को भी सम्मिलित किया गया है। आप यह दोहा अक्सर करके बोलतें होंगे– " सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोई सिद्ध होई। कर्म मैल को आंतरो, बिरलो बूझे कोई।" यह संसारी जीव ही सिद्ध बनता है और संसारी आत्मा तथा सिद्धात्मा में कोई अन्तर है तो वह कर्म मैल का है याने संसारी आत्मा मैली होती है और सिद्धात्मा परम निर्मल। मैला और साफ दोनों तरह का कपड़ा आखिर कपड़ा तो होता ही है। मैला कपड़ा ही समुचित श्रम के साथ साफ बनता है किन्तु एक बार परम निर्मल होकर आत्मा फिर से मैली नहीं होती है। सिद्धात्मा का यह निर्मल स्वरूप सदा काल बना रहता है, क्योंकि उस आत्मा का संसार के साथ सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है।

इसलिये सम्पूर्ण साधना का सार यह है कि आत्मा का मैला स्वरूप क्रमशः निर्मल होता जाय और एक दिन परम निर्मल बन जाय। संसारी आत्मा

की ओर दृष्टि जाती है। सम्यक्त्व की सम्पुष्टि पर ही व्रताचरण की क्रिया आरंभ होती है और आत्मा संयमोन्मुखी बनती है। फिर संयम याने सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना के बल पर गुणात्मकता की सम्पन्नता समृद्ध होती जाती है। मोटे तौर पर गुण सम्पन्नता को वर्गीकृत करें तो उसके तीन वर्ग कर सकतें हैं– सम्यक्त्व, व्रताचरण एवं संयम साधना।

सम्यक्त्व के प्रकाश में व्रताचरण से आरम्भ होती है सामायिक और संयम साधना की उत्कृष्टता को भी सामायिक ही समुज्जवल बनाती है। श्रावक के बारह व्रतों में नवमा व्रत सामायिक का होता है जो साधु अपने समग्र जीवन को सामायिकमय बना लेता है। साधु की सामायिकमय संयम साधना ही अरिहंत और सिद्ध के दिव्य स्वरूप में प्रतिफलित होती है।

## सामायिक मूलाधार के रूप में

इस प्रकार सामायिक की यथार्थता का अंकन करें तो वह समग्र संयम साधना की मूलाधार होती है। जैसे पृथ्वी के आधार के बिना कोई वस्तु टिक नहीं सकती वैसे ही सामायिक का आश्रय पाये बिना दूसरे गुण टिक नहीं सकते। जितने भी आत्मीय सद्‌गुण होते हैं वे सम्यक्त्व के प्रकाश में ही जन्म लेते हैं तथा सामायिक व्रत के धरातल पर आश्रय पाते हैं। यह धरातल जितना अधिक सुघड़ बनता है, उतने ही सारे सद्‌गुण दीर्घजीवी एवं प्राभाविक होते हैं।

भगवती सूत्र में भगवान का सम्बोधन इस प्रकार अंकित है–

आयाणे अज्जो, सामाइये।
आयाणे अज्जो, सामाइयस्स अट्ठे।। (1–9)

भगवान ने फरमाया है– हे आर्य, यह आत्मा ही सामायिक याने समत्वभाव रूप है और यही आत्मा सामायिक के अर्थ विशुद्धि के रूप में सुप्रकाशित होती है। अर्थात् आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ। यह व्याख्या बडी गम्भीर हैं।

सामायिक क्या होती है ? उसका अर्थ क्या होता है ? आत्म भावों में समत्व का जो आगमन होता है, वही सामायिक है और सामायिक का अर्थ वह जो सामायिक की साधना के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। यह होता है आत्म स्वरूप की विशुद्धि के रूप में। समता भाव में अवस्थित आत्मा स्वयं सामायिक है और उस भाव को जो परिणाम आत्म स्वरूप की विशुद्धि के रूप में प्रकट होता है, वही सामायिक का अर्थ और आत्मा की अर्थ-सिद्धि है। यह होता है

सामायिक का भाव स्वरूप और जो सामायिक क्रिया के रूप में की जाती है वह सामायिक का द्रव्य स्वरूप होता है। श्रावक द्वारा सामायिक के समय धारण की गई वेशभूषा तथा साधु की स्थायी वेशभूषा सामायिक का बाह्य प्रतीक है तो सामायिक का आभ्यन्तर स्वरूप भावमय होता है और भाव होता है समता का भाव, जिस भाव का सम्पूर्ण आत्मीय सद्‌गुण टिके हुए रहते हैं।

भगवती सूत्र का उपरोक्त वचन सामायिक के भाव या आभ्यन्तर स्वरूप को परिभाषित करता है कि सामायिक की साधना में आत्मा सामायिक से भिन्न नहीं रहती, वह सामायिक ही हो जाती है।

## सामायिक और सद्‌गुणों का विकास

मूल रूप में सामायिक की निरन्तर साधना से जिस आत्मीय गुण का जन्म होता है और जिस की जड़ें गहराई तक जमती जाती हैं, वह गुण होता है समता का गुण। समता का फूल उग आए तो अनेकानेक आत्मीय सद्‌गुण उसकी पंखुड़ियों के रूप में खिल उठते हैं। फूल मुरझाना नहीं चाहिए, फिर उसकी सभी पंखुड़ियां तो खिली हुई ही रहेंगी। समता गुण की जड़ें मजबूत हो जायं तो उस वृक्ष की सभी शाखा-प्रशाखाएं, फूल, पत्ते और फल हरे-भरे और खिले हुए बने रहते हैं। समता खिली हुई रहती है तो आत्मा खिली हुई रहती है। यही समता सामायिक का प्रसाद होती है।

अपने अर्थ विन्यास में देखें तो समता ममता का विलोम होती है। ममता शब्द में 'मम' का अर्थ होता है मेरा और जितना मेरापना है वह सब ममता, ममत्त्व या आसक्ति है। ममता मोह की धरती पर जन्मती और पनपती है तथा यह मोह होता है सांसारिकता का मोह, जो सम्बन्धों और पदार्थों से सम्बन्धित होता है। इस में शरीर-सम्बन्ध भी शामिल है। यों सभी प्रकार की जड़ग्रस्तता को मोह मानिये तथा ममता मोह की आत्मा होती है। इस ममता को घटाना और मिटाना ही सामायिक का लक्ष्य होता है, क्योंकि जितने अंशों में सांसारिक जड़ता के प्रति ममता कमजोर होती है, उसने ही अंशों में समता अपनी आन्तरिकता में प्रविष्ठ होती है तथा आत्म स्वरूप की विशुद्धि होती है।

सामायिक के अभ्यास से साधी गई समता सांसारिकता से जीवन को दूर हटाती है और उसे आत्मा से जोड़ती है। इस संयोग में आत्मा के अवगुणों का शमन होता जाता है और उसके दृष्टिकोण में समता याने सहनशीलता पनपती जाती है। भावों में समता व्याप्त होती है तो वह वचन में प्रकट होती है तथा व्यवहार एवं कार्यकलापों में समाहित बनती है और इस प्रकार विचार,

वचन तथा व्यवहार सहनशील भी बनते हैं तो समानता के प्रेरक भी। आन्तरिक समानता बाह्य परिस्थितियों में भी समानता लाने को प्रोत्साहित करती है। इस रूप में भीतर बाहर समता की सहजता स्थापित होती है तथा इसी सहजता से सभी आत्मीय सद्गुण इस जीवन को विभूषित बनाते रहते हैं।

सामायिक इस दृष्टि से आध्यात्मिक साधना तो है कि, किन्तु अपने समता के मूल सद्गुण से सांसारिकता को सुधारने और संवारने वाले व्रत के रूप में भी सुफलदायक होती है।

## एकै साधे, सब सधै

सामायिक का साधक चाहे गृहस्थ जीवन बिता रहा हो अथवा साधु जीवन मे चल रहा हो– यह सामायिक ऐसी आधारभूत साधना सिद्ध होती है जो, एकै साधे, सब सधै, की उक्ति को चरितार्थ करती है। एक सामायिक की भी भावपूर्ण साधना सफल बन जाय तो उससे तीर्थकर नाम गौत्र तक का बंध हो सकता है। यह सामायिक अपनी साधना के स्तर पर श्रावक को श्रमण के तुल्य बनाती है तो श्रमण को अरिहंत और सिद्ध पद तक पहुंचाती है।

श्रावक का नवमा व्रत सामायिक का होता है जिसमें दो घड़ी (अड़तालीस मिनिट) के लिए सावद्य याने हिंसाकारी योग का दुविहं तिविहेणं अर्थात् मन, वचन और काया से न करने और न करवाने का प्रत्याख्यान लिया जाता है। सामायिक के अलावा समय में श्रावक को भावना भानी चाहिये कि सामायिक के प्रति श्रद्धा-प्ररूपणा तो है किन्तु सामायिक का अवसर आने पर सामायिक का व्रताचरण करके विशुद्धि की उपलब्धि करे। सामायिक के पांच अतिचारों का आलोचन एवं संशोधन श्रावक को करते रहना चाहिए। सामायिक के पांच अतिचार इस प्रकार बताये गये हैं– (1) मन को अशुभ योग में प्रवृत्त करना, (2) वचन को अशुद्ध योग में प्रवृत्त करना, (3) काया को अशुभ योग में प्रवर्तित करना, (4) सामायिक की स्मृति नहीं रखना या करना तथा (5) सामायिक पूरी हुए बिना ही सामायिक पाल लेना। इन अतिचारों में से कोई भी अतिचार श्रावक को इस व्रत में लगे तो प्रतिक्रमण करते समय उसे 'मिच्छामि दुक्कडं' देना चाहिये।

सामायिक की सच्ची साधना करने वाला श्रावक श्रमण के तुल्य बन जाता है–यह भगवान का वचन है जिसे आचार्य भद्रबाहु ने अपनी सूक्तियों में गुम्फित किया है–" सामाइयं मि उ कए समणो, इव सावओ हवइ जम्हा (गाथा 802) अर्थात् सामायिक (समभाव) की साधना करता हुआ श्रावक भी श्रमण के

तुल्य हो जाता है। श्रमण भी जीवन पर्यन्त की सामायिक की साधना ही तो करता है।

एक ही व्रत सामायिक का व्रत ऐसा अकेला माध्यम है जिसका आश्रय ग्रहण करके संसार में भी आत्म विकास को सम्पन्न बनाया जा सकता है तथा संसार–सागर के पार भी पहुंचा जा सकता है। एक को साध लो तो सब सध जाय–इसका सामायिक से बढ़कर अन्य श्रेष्ठ उदाहरण नहीं हो सकता है। सामायिक वह खान है जिसमें से समता महारत्न के साथ अनेकानेक रत्नों की इस आत्मा को उपलब्धि हो सकती है। आवश्यकता है उस निरन्तर अभ्यास और साधना की कि सामायिक की खान को पुरुषार्थ पूर्वक खोदते रहकर सर्व सद्‌गुणों को प्राप्त कर सकें।

## सामायिक का मोल अमोल

एक बार भगवान महावीर की सेवा में उपस्थित होकर महाराज श्रेणिक ने अपनी आगामी गति के बारे में पूछा तो उत्तर मिला कि वह गति नरक है। इस पर व्यग्र होकर श्रेणिक ने कहा–प्रभु, क्या मेरी नरक गति टल नहीं सकती है ? भगवान तो अन्तर्यामी थे–श्रेणिक को प्रबोध देना था, वे बोले–राजन यदि पूणिया श्रावक की एक सामायिक खरीद लो तो नरक गति टल सकती है। कालू कसाई द्वारा हिंसा छुड़वाने, कुब्जा दासी द्वारा दान दिलवाने आदि की दो तीन शर्तें और भी प्रभु ने बताई। श्रेणिक ने सोचा– एक सामायिक ही तो खरीदनी है–मेरे भंडार तो रत्न स्वर्ण आदि से भरे हुए हैं– फिर इसमें कठिनाई क्या होगी ?

श्रेणिक महाराज पूणिया श्रावक से यहां पहुंचे और निवेदन करने लगे– श्रावक जी, आप तो प्रति दिन कई सामायिकें करते हैं–मैं तो केवल एक सामायिक आपसे खरीदना चाहता हूं। मुझ पर आप यह कृपा अवश्य कीजिये। पूणिया श्रावक ने मृदु मुस्कान के साथ उत्तर दिया–राजन् सामायिक क्या खरीद–फरोख्त की वस्तु हो सकती है ? यह तो आत्म भाव है जिसे स्वयं साधा जाता है। और यों मोल ही कराने लगो तो सामायिक का मोल अमोल होता है। एक सामायिक की बराबरी करोड़ों मेरु पर्वतों जितना स्वर्ण भी नहीं कर सकता है। कहां राजा श्रेणिक का स्वर्ण भंडार और कहां करोड़ों मेरु पर्वतों जितना स्वर्ण भी अतुलनीय ? राजा श्रेणिक को प्रबोध मिल गया कि अपने सम्पूर्ण राज्य की ऋद्धि भी एक सामायिक के सामने नगण्य है।

आपमें से कई भाई–बहिनें भी सामायिक करते हैं किन्तु क्या आपने कभी सामायिक का मोल समझा है ? जरा सा लोभ का अवसर आ जाय तो शायद सामायिक की पवित्रता को भूल बैठें। यह आत्मिक दुर्बलता की बात है और जब तक इस दुर्बलता को दूर नहीं करेंगे, वास्तविक रूप में सामायिक की साधना नहीं कर पायेंगे। सामायिक एवं समभाव के महत्त्व को समझिये तथा सर्व सद्गुणों के मूलाधार को पुष्ट बनाइये।

2

# सामायिक–सूत्र जीवन-सूत्र

वास्तविकता के साथ विचार करें तो सामायिक एक व्रत अथवा धार्मिक क्रिया मात्र ही नहीं है। सामायिक सम्पूर्ण जीवन है और जीवन का प्राण है। यदि आत्मा की आन्तरिकता में सामायिक का भाव रूप विद्यमान नहीं है तो यथार्थ में वह जीवन ही नहीं है क्योंकि वहां पर मानवता के मूल्यों का प्रचलन नहीं मिलेगा। सामायिक द्वारा संरक्षित समता भाव नहीं है तो वहां जीवन का जागरण नहीं है, सहानुभूति का स्फुरण नहीं है और सांसारिकता का विस्मरण नहीं है। समभाव नहीं है याने कि राग और द्वेष का घातक संचरण है तथा विषय एवं कषायों का ही स्मरण है, जो एक प्रकार से जीवन नहीं मरण है। सामायिक की आराधना आत्मा को ऐसी ही मरणावस्था से जीवन्त जीवन की ओर ले जाती है।

किसी की आंखों पर यदि रंगीन चश्मा चढ़ा हो या पीलिये का रोग हो रहा हो तो आंखें किसी भी वस्तु को उसके वास्तविक स्वरूप में नहीं देख पाती हैं और जब वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही नहीं हो तो कैसे ज्ञान की विमलता की प्रतीति हो और कैसे सत्य की अनुभूति हो ? इसी प्रकार राग और द्वेष के दुर्भाव आत्मदृष्टि के लिये पीलिये के रोग के समान होते हैं। उनके रहते दृष्टि–दोष बना रहता है। इस दोष को दूर करता है समता का भाव, जिसे मध्यस्थ भाव भी कहते हैं याने न राग का भाव और न द्वेष का भाव–राग द्वेष हीन मध्य का भाव ही मध्यस्थ भाव कहलाता है। जब आत्म चिन्तन में मध्यस्थ भाव संचरित होता है, तभी ज्ञान–चक्षु स्पष्ट बनते हैं तथा दृष्टि निर्मल होती है। यही दृष्टि विकसित बन कर सच्चे ज्ञान की वाहक बनती है तथा सत्य

का साक्षात्कार कराती है। आचार्य भद्रबाहु ने अपनी सूक्तियों की गाथा 804 में कहा है–

"जोण विवट्टई रागे, ण वि दोसे दोण्मज्झयंगरामि।
सो होइ उ मज्झत्थो, से सा सबे अमज्झत्था।।"

अर्थात् जो न राग करता है, न द्वेष करता है, वही वस्तुतः मध्यस्थ (समभावी) है, बाकी सब अमध्यस्थ हैं।

ऐसे मध्यस्थ भाव या समभाव की जननी होती है सामायिक की साधना, जिसका जितना सघन अभ्यास किया जाता रहेगा, उतना ही अपना समभाव श्रेष्ठतर बनता हुआ स्व–पर कल्याण का कारणभूत बनेगा।

## सतत अभ्यास समभाव का

ऐसी कोई उपलब्धि नहीं, जो सतत अभ्यास से प्राप्त नहीं हो सके। सामायिक का व्रत वह सतत अभ्यास है, जिससे समभाव की उपलब्धि होती है, प्रतीति और विस्तृति बनती है तथा उत्कृष्टतम स्थिति में परिणति होती है।

किसी आन्तरिक भाव को साधने के लिये भी बाहरी क्रिया आवश्यक होती है, जिसके आश्रय से सम्पूर्ण योग साधना होती है। समभाव को साधने के लिये भी सामायिक की बाह्य क्रिया आवश्यक है। सभी योग सधते हैं, तभी भावशुद्धि सम्भव बनती है। योग तीन प्रकार के होते हैं–मन का योग, वचन का योग तथा काया का योग। साधना में तीनो प्रकार के योग–व्यापार का निरोध होना चाहिये। इन तीनों में नीचे से ऊपर तक योग–व्यापार का निरोध कठिनतर होता है। इसीलिये काया के योग–व्यापार को निरुद्ध करने का पहले प्रयास करना सरल रहता है। सामायिक की क्रिया में इस दृष्टि से एक स्थान पर आसन लगा कर बैठना होता है। स्थान बदलना अथवा एक स्थान पर भी शरीर को इधर–उधर बार–बार डोलायमान करना भी दोष माना गया है। काया में स्थिरता लाकर वचन–स्थिरता का प्रयास किया जाता है कि साधना के दौरान जो भी वचन निकले वह सत्य, हित, मित और इष्ट हो। वचन–नियंत्रण के साथ मन पर नियंत्रण का प्रयास सफलता की ओर आगे बढ़ता है।

सामायिक व्रत वह अभ्यास है जिसके माध्यम से मन, वचन एवं काया के समस्त योग–व्यापार का निरोध किया जाता है तथा अन्तःकरण की भावनाओं को समभाव की दिशा में सक्रिय बनाया जाता है। यह कार्य आसान नहीं होता है तथा सांसारिकता में रची पची आत्मा द्वारा तुरन्त साध्य भी नहीं

बनता है। इस कारण योग-व्यापार के निरोध का नियमित अभ्यास करना श्रेयस्कर होता है। अतः सामायिक व्रत की आराधना प्रतिदिन, समयबद्ध तथा नियमित होनी चाहिये। सतत अभ्यास अनिवार्य होता है।

## सामायिक व्रत की विधि और पाठ

सामायिक व्रत के पाठ होते हैं- नमस्कार मंत्र, तिक्खुत्तो का पाठ, इरियावहियं का पाठ, तस्स उत्तरी का पाठ, लोगस्स का पाठ, करेमि भंते का पाठ (मुख्य पाठ), णमोत्थुणं का पाठ तथा एयस्स नवमस्स का पाठ। इनमें सामायिक व्रत ग्रहण करने का पाठ होता है करेमि भंते का पाठ तथा सामायिक पारने का पाठ होता है एयस्स नवमस्स का पाठ। इन सभी पाठों का संयुक्त नाम है सामायिक सूत्र।

यद्यपि ये पाठ विभिन्न स्रोतों से लिये गये हैं, फिर भी संकलन रूप से यह सामायिक सूत्र एक स्वतंत्र सूत्र माना गया है। नमस्कार मंत्र, भगवती सूत्र एवं कल्पसूत्र का मंगलाचरण है तथा तिक्खुत्तो का पाठ भी रायप्परोणी सूत्र से लिया गया है। इस सूत्र में 'मत्थएण वंदामि' का पाठ नहीं है किन्तु परम्परा की धारण और प्रचलित परिपाटी से यह पाठ जुड़ गया है। इरियावहियं के पाठ में 'इच्छामि से मिच्छामि दुक्कडं' तक का पाठ आवश्यक में है। यों यह पाठ हरिभद्रीयावश्यक के पृष्ठ 572 पर है। इसी प्रकार तस्स उत्तरी, लोगस्स, करेमि भंते के पाठ भी हरिभद्रीयावश्यक के क्रमशः पृष्ठ 778, 493 से 509 तथा 454 पर अंकित है। णमोत्थुण का पाठ औपपातिक सूत्र 12 तथा कल्पसूत्र शक्रस्तव से लिया गया है। एयस्स नवमस्स का पाठ भी हरिभद्रीयावश्यक पृष्ठ 831 से उदधृत है।

सामायिक विधिपूर्वक ही लेनी तथा पारनी चाहिये, अन्यथा वह दोषपूर्ण होती है। विधि यह है कि सबसे पहले सामायिक की साधना के उपकरणों- आसन, पूंजनी, मुखवस्त्रिका आदि की तथा स्थान की प्रतिलेखना कर लेनी चाहिये। फिर यतनापूर्वक स्थान पूंज कर आसन बिछाना चाहिये। तदनन्तर खडे होकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुंह करके दोनों हाथ जोडकर पंचांग नमा कर 'तिक्खुत्तो' के पाठ से तीन बार विधिपूर्वक वन्दना करना और श्री श्रीमंधर स्वामी व अपने गुरुदेव की आज्ञा लेकर नमस्कार मंत्र, इच्छाकारेणं और तस्सउत्तरी के पाठ बोलकर काउसग्ग करना चाहिये जिसमें इच्छाकारेणं का पाठ मन में कहें। 'तस्स आलोउं' और 'णमो अरिहंताणं' कहते हुए काउसग्ग पारें। फिर नमस्कार मंत्र तथा ध्यान पाठ (काउसग्ग में आर्तध्यान,

रौद्रध्यान ध्याया हो, धर्मध्यान न ध्याया हो, काउसग्ग में मन, वचन, काया चलित हुए हों तो तस्स मिच्छामि दुक्कड़) का उच्चारण करें तथा लोगस्स का पाठ कहें।

फिर करेमि भंते के पाठ से सामायिक लें। इस पाठ में जहां 'जाव नियम' शब्द आता है, वहां जितनी सामायिक लेनी हो उतनी सामायिक लेकर पाठ को समाप्त करें। बाद में नीचे बैठकर बायां घुटना खड़ा रख कर दो बार 'णमोत्थुणं' का पाठ बोलें। पहली बार पाठ के अन्त में 'ठाणं सम्पत्ताणं' और दूसरी बार में उसके स्थान पर 'ठाणं संपाविउ कामाणं' का उच्चारण करें।

सामायिक के दो घड़ी समय में नया ज्ञान सीखना, सीखा हुआ याद करना, स्वाध्याय करना, परमात्मा के स्तवन, प्रार्थना, स्तुति, स्तोत्र बोलना तथा माला फेरना व ध्यान करना चाहिये। यह ध्यान रखें कि सामायिक का समय प्रमाद रहित होकर व्यतीत हो तथा ज्ञान, ध्यान, चिन्तन और मनन में लगे। सन्त मुनिराज विराजते हों तो उन्हें पीठ देकर न बैठें तथा व्याख्यान, प्रवचन आदि चल रहे हों तो उसमें उपयोग रखें। सामायिक में विकार जनक पुस्तक या उपकरण न रखें तथा बत्तीस दोषों का सेवन न करें।

समय पूरा होने पर ही सामायिक पारें। उस समय नमस्कार मंत्र, इच्छाकारेणं तथा तस्स उत्तरी के पाठ बोलकर काउसग्ग करें जो दो 'लोगस्स' के पाठ का हो। यथाविधि काउसग्ग पालकर नमस्कार मंत्र व ध्यान पाठ कहें व 'लोगस्स' का पाठ प्रकट में बोलें। बाद में बायां घुटना ऊपर रखकर यथाविधि दो बार 'णमोत्थुणं' का पाठ कहें। फिर एयस्स नवमस्स का पाठ पूरा बोलकर व तीन बार नमस्कार मंत्र गिनकर सामायिक पारें—समाप्त करें।

## नमस्कार मंत्र व गुरु-वन्दना

सामायिक सूत्र के विभिन्न पाठों की कुछ विशेषताओं का यहां पर अंकन करना भी समीचीन रहेगा।

नमस्कार मंत्र की महामहिमा से आप सुपरिचित होंगे कि यह मंत्र ही नहीं, महामंत्र माना गया है तथा इसमें अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व साधु के पांच पदों को नमस्कार करते हुए इसे पापहारी और परम मंगलकारी कहा है। इस महामंत्र का दत्तचित्त होकर जितना स्मरण किया जाय, यह तन-मन को स्वस्थ बनाता है। यह मंत्र साधक को सुख, शान्ति एवं आनन्द की अनुभूति प्रदान करता है।

गुरु-वन्दना का अनुपम महत्त्व माना गया है, क्योंकि गुरु साक्षात् समक्ष होते हैं तथा उन्हीं के माध्यम से पंच पदों का स्वरूप ज्ञान मिलता है। ऐसे गुरु का विनम्र वन्दन, नमस्कार, सत्कार एवं सम्मान कल्याणकारी और मंगलकारी होता है, अतः उनकी पर्युपासना करके नतमस्तक होकर वन्दना करना अपने अन्तःकरण को धार्मिकता से आप्लावित बनाना होता है।

## जीव हिंसा की आलोचना

इरियावहियं का पाठ एक प्रकार से आलोचना का सूत्र है, जिसके द्वारा सामायिक के हेतु से आवागमन में होने वाली जीव हिंसा का प्रायश्चित किया जाता है। नानाविध क्रियाओं से एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक में से किसी भी जीव को अभिहत किया हो, संघटित, किलामित या संक्रामित किया हो अथवा स्थानान्तरित किया हो तो उस हिंसामय क्रिया की इस पाठ से आलोचना की जाती है। किसी भी प्रकार की जीव विराधना आलोच्य मानी गई है। इसी कारण सामायिक लेते समय पहले भी और काउसग्ग में भी इस आलोचना सूत्र का पाठ किया जाता है तथा सामायिक के समय में ऐसी किसी क्रिया के लिये सामायिक पारते समय भी इसका पाठ किया जाता है।

मूलतः यह व अन्य पाठ प्राकृत भाषा में हैं जो भगवान महावीर के काल में लोक भाषा थी। अतः इन पाठों का अपनी-अपनी वर्तमान भाषा में अर्थ समझना चाहिये तथा बोलते समय उसके भावार्थ पर चिन्तन करते हुए अपने दोषों के लिये तदनुसार प्रायश्चित अथवा स्तवन, वन्दन की भावना रखनी चाहिये।

## कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा

तस्स उत्तरी के पाठ द्वारा एकाग्रता से कायोत्सर्ग (ध्यान) करने की प्रतिज्ञा ली जाती है और यह चिन्तन किया जाता है कि ध्यान क्यों तथा किस प्रकार करना चाहिये।

स्वयं 'कायोत्सर्ग' शब्द ध्यान की परम विशेषता को दर्शाने वाला है। काया का उत्सर्ग कर दिया जाय याने कि उतने समय के लिये काया के मोह का दायरा ही खत्म कर दिया जाय, तब कहीं जाकर काउसग्ग या ध्यान सम्पन्न होता है। अतः इस पाठ में कहा गया है कि प्रायश्चित आदि करते हुए पाप कर्मों को नष्ट करने के लिये काउसग्ग कर रहा हूं जिसमें श्वासोश्वास, खांसी, छींक आदि न रोके जा सकने वाले हलन-चलन के सिवाय सम्पूर्ण

काय-योग का निरोध करता हूं और जब तक कायोत्सर्ग को समाप्त नही करूंगा तब तक काया को स्थिर रखकर मौन भाव से स्वयं को समर्पित रखूंगा। यह पाठ कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा कराता है।

## चौवीस तीर्थकरों की स्तुति

लोगस्स का पाठ चौबीस तीर्थकरों का स्तवन सूत्र है, जिनमें वर्तमान शासन नायक भगवान महावीर चौवीसवें तीर्थकर थे। लोक के उद्योत रूप तथा धर्म तीर्थ रूप 'उसभमजियं च' से लेकर 'पासं तह वद्धमाणं च ' की इस पाठ द्वारा वन्दना की गई है और प्रार्थना की गई है कि ये लोकोत्तम, कीर्तनीय, वन्दनीय, महिमामय एवं सिद्ध चौवीसों जिनवर मुझे उत्तम आरोग्य, वोध, लोभ एवं समाधि प्रदान करें और अन्त में 'सिद्धाः सिद्धिं मम दिसन्तु' क्योंकि ये तीर्थकर चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल, सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान तथा सागर से भी अधिक गंभीर हैं। इस स्तवन से यह भावना पुष्ट बनती है कि 'मुझे भी सिद्धि मिले'।

## सावज्जं जोगं पच्चक्खामि

सामायिक लेने का जो मुख्य पाठ है, वह है करेमि भंते का पाठ तथा उसका मुख्य प्रत्याख्यान है सावद्य (हिंसाकारी) योग व्यापार का प्रत्याख्यान। यह श्रावक के लिये 'दुविहं तिविहेणं' होता हैं अर्थात् मन से, वचन से और काया से हिंसाकारी योग व्यापार निर्धारित समय (जितनी सामायिक ली जाय उसके अनुसार) के लिये न करूंगा और न किसी अन्य से करवाऊंगा। इसमें 'करने वाले का अनुमोदन नहीं करूंगा' वाली तीसरी विधि की छूट होती हैं। जब कोई साधक संसार त्याग कर साधु धर्म ग्रहण करता हैं, तब उसे दीक्षा भी इसी पाठ से दी जाती है, जो दीक्षा (सामायिक) जीवन पर्यन्त की होती है तथा तिविहं तिविहेणं होती है। साधु समता भाव का सम्पूर्ण साधक बनता हैं।

इस पाठ द्वारा सामायिक में कोई दोष लगे तो उसके लिये प्रतिक्रमण करने, आत्मनिन्दा एवं गर्हा व्यक्त करने हेतु आत्म विसर्जन भी किया जाता हैं।

## प्रणिपात-सूत्र

प्रतिपात सूत्र के रूप में णमोत्थुणं का पाठ सर्वत्र दो बार गिना जाता है, क्योंकि एक बार उन अरिहन्त भगवन्तों को नमस्कार किया जाता है जो सिद्ध गति को प्राप्त कर चुके हैं तथा दूसरी बार से उन अरिहन्त भगवन्तों को नमस्कार किया जाता है जो सिद्ध स्थान को प्राप्त करने के अभिलाषी हैं

गुरु-वन्दना का अनुपम महत्त्व माना गया है, क्योंकि गुरु साक्षात् समक्ष होते हैं तथा उन्हीं के माध्यम से पंच पदों का स्वरूप ज्ञान मिलता है। ऐसे गुरु का विनम्र वन्दन, नमस्कार, सत्कार एवं सम्मान कल्याणकारी और मंगलकारी होता है, अतः उनकी पर्युपासना करके नतमस्तक होकर वन्दना करना अपने अन्तःकरण को धार्मिकता से आप्लावित बनाना होता है।

## जीव हिंसा की आलोचना

इरियावहियं का पाठ एक प्रकार से आलोचना का सूत्र है, जिसके द्वारा सामायिक के हेतु से आवागमन में होने वाली जीव हिंसा का प्रायश्चित किया जाता है। नानाविध क्रियाओं से एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक में से किसी भी जीव को अभिहत किया हो, संघटित, किलामित या संक्रामित किया हो अथवा स्थानान्तरित किया हो तो उस हिंसामय क्रिया की इस पाठ से आलोचना की जाती है। किसी भी प्रकार की जीव विराधना आलोच्य मानी गई है। इसी कारण सामायिक लेते समय पहले भी और काउसग्ग में भी इस आलोचना सूत्र का पाठ किया जाता है तथा सामायिक के समय में ऐसी किसी क्रिया के लिये सामायिक पारते समय भी इसका पाठ किया जाता है।

मूलतः यह व अन्य पाठ प्राकृत भाषा में हैं जो भगवान महावीर के काल में लोक भाषा थी। अतः इन पाठों का अपनी-अपनी वर्तमान भाषा में अर्थ समझना चाहिये तथा बोलते समय उसके भावार्थ पर चिन्तन करते हुए अपने दोषों के लिये तदनुसार प्रायश्चित अथवा स्तवन, वन्दन की भावना रखनी चाहिये।

## कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा

तस्स उत्तरी के पाठ द्वारा एकाग्रता से कायोत्सर्ग (ध्यान) करने की प्रतिज्ञा ली जाती है और यह चिन्तन किया जाता है कि ध्यान क्यों तथा किस प्रकार करना चाहिये।

स्वयं 'कायोत्सर्ग' शब्द ध्यान की परम विशेषता को दर्शाने वाला है। काया का उत्सर्ग कर दिया जाय याने कि उतने समय के लिये काया के मोह का दायरा ही खत्म कर दिया जाय, तब कहीं जाकर काउसग्ग या ध्यान सम्पन्न होता है। अतः इस पाठ में कहा गया है कि प्रायश्चित आदि करते हुए पाप कर्मों को नष्ट करने के लिये काउसग्ग कर रहा हूं जिसमें श्वासोश्वास, खांसी, छींक आदि न रोके जा सकने वाले हलन-चलन के सिवाय सम्पूर्ण

काय-योग का निरोध करता हूं और जब तक कायोत्सर्ग को समाप्त नही करूंगा तब तक काया को स्थिर रखकर मौन भाव से स्वयं को समर्पित रखूंगा। यह पाठ कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा कराता है।

## चौबीस तीर्थकरों की स्तुति

लोगस्स का पाठ चौबीस तीर्थकरों का स्तवन सूत्र है, जिनमें वर्तमान शासन नायक भगवान महावीर चौबीसवें तीर्थकर थे। लोक के उद्योत रूप तथा धर्म तीर्थ रूप 'उसभमजियं च' से लेकर 'पासं तह वद्धमाणं च ' की इस पाठ द्वारा वन्दना की गई है और प्रार्थना की गई है कि ये लोकोत्तम, कीर्तनीय, वन्दनीय, महिमामय एवं सिद्ध चौबीसों जिनवर मुझे उत्तम आरोग्य, बोध, लोभ एवं समाधि प्रदान करें और अन्त में 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु' क्योंकि ये तीर्थंकर चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल, सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान तथा सागर से भी अधिक गंभीर हैं। इस स्तवन से यह भावना पुष्ट बनती है कि 'मुझे भी सिद्धि मिले'।

## सावज्जं जोगं पच्चक्खामि

सामायिक लेने का जो मुख्य पाठ है, वह है करेमि भंते का पाठ तथा उसका मुख्य प्रत्याख्यान है सावद्य (हिंसाकारी) योग व्यापार का प्रत्याख्यान। यह श्रावक के लिये 'दुविहं तिविहेणं' होता है अर्थात् मन से, वचन से और काया से हिंसाकारी योग व्यापार निर्धारित समय (जितनी सामायिक ली जाय उसके अनुसार) के लिये न करूंगा और न किसी अन्य से करवाऊंगा। इसमें 'करने वाले का अनुमोदन नहीं करूंगा' वाली तीसरी विधि की छूट होती है। जब कोई साधक संसार त्याग कर साधु धर्म ग्रहण करता है, तब उसे दीक्षा भी इसी पाठ से दी जाती है, जो दीक्षा (सामायिक) जीवन पर्यन्त की होती है तथा तिविहं तिविहेणं होती है। साधु समता भाव का सम्पूर्ण साधक बनता है।

इस पाठ द्वारा सामायिक में कोई दोष लगे तो उसके लिये प्रतिक्रमण करने, आत्मनिन्दा एवं गर्हा व्यक्त करने हेतु आत्म विसर्जन भी किया जाता है।

## प्रणिपात-सूत्र

प्रणिपात सूत्र के रूप में णमोत्थुणं का पाठ सर्वत्र दो बार गिना जाता है, क्योंकि एक बार उन अरिहन्त भगवन्तों को नमस्कार किया जाता है जो सिद्ध गति को प्राप्त कर चुके हैं तथा दूसरी बार में उन अरिहन्त भगवन्तों को नमस्कार किया जाता है जो सिद्ध स्थान को प्राप्त करने के अभिलाषी हैं

अर्थात् वर्तमान में अरिहन्त रूप में विचरण कर रहे हैं, जैसे कि वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में बीस विहरमान अरिहंत विचरण कर रहे हैं।

इस सूत्र में अरिहंत पद की गुण गरिमा वर्णित है कि वे पुरुषों में उत्तम, सिंह स्वरूप, पुण्डरिक व गंधहस्ति के समान हैं तथा लोक में उत्तम, नाथ, हितकारी, प्रतापी और प्रद्योतकर हैं। इन महापुरुषों से अभय, मार्ग, शरण, बोध, धर्म, उपदेश आदि की प्रेरणा मिलती है। ये अरिहंत प्रभु स्वयं जिन बनते हैं और दूसरों को बनाते हैं, स्वयं तिरते हैं तथा दूसरों को तारते हैं, स्वयं बुद्ध होते हैं तथा दूसरों को बोध देते हैं एवं स्वयं मुक्त होते हैं तथा दूसरों को मुक्ति का मार्ग बताते हैं। ऐसे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी एवं अव्याबाध सुख के धनी जिन देवों को हमारा नमस्कार इस पाठ द्वारा व्यक्त किया जाता है।

## समाप्ति सूत्र से आलोचना

एयस्स नवमस्स के समाप्ति सूत्र से सामायिक साधना में लगे दोषों आदि की आलोचना की जाती है जो मुख्य रूप से मन, वचन एवं काया के योग–व्यापार से सम्बन्धित होती है। स्मरण किया जाता है कि किसी भी रूप में सामायिक के पांच अतिचारों का या उसमें से किसी या किन्हीं अतिचारों का सेवन तो नहीं किया गया है ? इन विचारों के अनुसार, मन, वचन एवं काया का दुष्प्रणिधान नहीं किया जाना चाहिये, सामायिक की स्मृति रखी जानी चाहिये तथा समय पूर्ण होने पर सामायिक पालनी चाहिये, किन्तु यदि ऐसा नहीं किया गया हो और कोई अतिचार या दोष लगा हो तो उसकी इस पाठ से आलोचना की जाती है। विधिपूर्वक आज्ञा का पालन नहीं किया गया हो तो उसका भी प्रायश्चित किया जाता है।

सामायिक को पारते समय पाठ के इन उच्चारणों से भी मन, वचन और काया से आलोचना की जाती है कि (1) सामायिक विधि से लेते व पारते हुए जो कुछ भी अविधि हुई हो (2) मन के दस, वचन के दस और काया के बारह कुल बत्तीस दोषों में से कोई पाप दोष लगा हो (3) स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा–इन चारों में से कोई कथा की हों (4) आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा इन चारों में से किसी संज्ञा का सेवन किया हो (5) अतिक्रम, व्यक्तिक्रम, अतिचार, अनाचार, जानते–अजानते मन, वचन काया से कोई दोष लगा हो तथा (6) सामायिक के पाठ बोलने में काना, मात्रा, अनुस्वार, पद, अक्षर, ह्रस्व, दीर्घ, न्यूनाधिक, विपरीत पढ़ने में आया हो।

इस प्रकार एयस्स नवमस्स के पाठ से सामायिक पारी भी जाती हैं तो सामायिक काल के दोषों की अलोचना भी की जाती है।

## सामायिक की साधना का सुप्रभाव

समभाव के सतत अभ्यास रूप सामायिक की साधना का सुप्रभाव आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों क्षेत्रों में सुखदायक होता है। सामायिक का सार होता है समभाव और व्यक्ति के अन्तःकरण में जब समभाव श्रेष्ठ स्थान पा जाता है तो वह व्यक्ति सर्वत्र ही समता की सुगंध बिखेरता हुआ चलता है।

सांसारिकता के बीच में रहने और चलने वाला मानव भी जब सामायिक की साधना द्वारा समभाव की यथोचित मात्रा में प्राप्ति करता है तो वह सब प्राणियों के सुख–दुःख का ध्यान रखने वाला तथा दूसरों की तरफ से किसी भी तरह का कटु व्यवहार हो तो उसे सद्भाव से सहन करने वाला बन जाता हैं। आप ही सोचिये कि यदि ऐसा मानव परिवार, समाज या राष्ट्र में कहीं पर भी क्रियाशील हो तो वह जहां भी रहेगा दूसरों की हित रक्षा पहले करेगा, शुभ प्रयोजन हेतु अपना सब कुछ त्याग करेगा, सबको भाईचारे की आदर्श प्रेरणा देगा तथा सबके सुख–दुःख में सहयोग का हाथ बढ़ायगा। वह सर्वप्रिय होगा तथा सबके लिये समभाव का प्रेरणा स्रोत भी।

समभाव की सम्पूर्ण साधना करने वाले साधु मुनिराज तो साम्यभाव के धनी स्व–पर के हितसाधक, निःस्वार्थ भावी एवं तपस्वी होती ही हैं। अतः समभाव का अभ्यास प्रत्येक विकासोन्मुखी आत्मा को करना ही चाहिये और उसके सतत अभ्यास का सबल माध्यम सामायिक व्रत ही है।

# समभाव के अभ्यास से सुखवृद्धि

जैसे सैनिक बंदूक या तीर चलाना एक ही साथ नहीं सीख लेता, विद्यार्थी एक ही दिन में किसी डिग्री को प्राप्त नहीं कर लेता, पर वह सावधान होकर एकाग्र भाव से सतत अभ्यास करता रहता है। इसी प्रकार जीवन सिद्धि का लक्ष्य सिद्ध करने के लिये समभाव का अभ्यास करते रहना चाहिये।

विद्यार्थी द्वारा स्नातक तक की डिग्री प्राप्त करने के लिये भी प्रारम्भ से कितना अभ्यास करना पड़ता है—यह तथ्य तो आपमें से कई लोगों के अनुभव में अवश्य होगा। तीन वर्ष की आयु के बाद आप बालक को पाठशाला में प्रवेश दिलाते हैं। वह शिशु वर्ग से पहली आदि कक्षाओं को पार करते हुए कितने वर्षो में डिग्री कोर्स तक पहुंचता है ? शायद चौदह पन्द्रह वर्ष लग जाते होंगे, अगर वह किसी भी कक्षा में अनुत्तीर्ण न हो। एक छोटी सी डिग्री लेने के लिए इतना समय लगता है और आप लोग लगाते हो—जिस डिग्री से शायद छोटी-मोटी नौकरी भी तुरन्त पाने की गारंटी नहीं होती। इसकी तुलना समभाव के अभ्यास से करके तो देखिए। जिस डिग्री से सामान्य आर्थिक लक्ष्य पाना भी दूभर लगता है, उसके लिये चौदह-पन्द्रह वर्षो तक रात दिन श्रम किया जाता है तो समभाव के अभ्यास के लिये कितना समय देते हैं, श्रम करते हैं तथा नई पीढ़ी को इसके लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित बनाते हैं ? मैं आपसे यह कहूं कि समभाव के अभ्यास के लिए आप प्रतिदिन एक सामायिक जितना समय दीजिये तो क्या यह अनुचित होगा ? इस अभ्यास से तो आपका सारा जीवन सुधरेगा, व्यवहार बदलेगा तथा नई पीढ़ी को नये सुसंस्कार मिलेंगे। फिर इस दिशा में आपकी अभिरुचि का अभाव किस तथ्य की ओर संकेत करता है ?

संकेत साफ है। गोबर का कीड़ा गोबर में रहकर ही अपनी खुशी खोजना चाहता है—वह सुलभता होने पर भी शहद में जाने का श्रम नहीं करना चाहता है। संसार में रहते हुए जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न सबसे पहले रखें—इसमें कोई आपत्ति न की जाय, लेकिन क्या दिन रात में एक घंटा समय भी उस लक्ष्य के लिये नहीं दिया जा सकता है जिसके बल पर आत्म विकास की ऊंचाईयों के साथ व्यक्ति एवं समाज का उत्थान सरल बनाया जा सकता है ? यह सांसारिकता में घोर लिप्तता की बात होगी कि कांच का टुकड़ा पाने के लिये तो पसीना बहाया जाय और हाथ में रहे हीरे को एक कोने में फेंक दिया जाय। यह आत्मावलोकन एवं आत्मालोचन का गम्भीर विषय है।

## समभाव के बिना संसार नरककुण्ड

समभाव के बिना संसार नरक के समान है। उस के अभाव में जीवन अस्थिर, अशान्त, क्लेशमय और सन्ताप युक्त बनता है। जीवन में जितनी मात्रा में समभाव की वृद्धि होगी, उतनी ही मात्रा में सुख में वृद्धि होगी।

समभाव नहीं होगा तो ममत्त्व भाव होगा और ममत्त्व होगा संसार के भोग्य पदार्थों के प्रति और उनके साधन स्वरूप धन, सम्पत्ति व सत्ता के प्रति। भोग विलास ही जब मुख्य बन जाता है तो इन्द्रियों के पोषण की ही लालसा लगी रहती है तथा शब्द, रूप, गंध, रस एवं स्पर्श की मनोज्ञ वस्तुओं को प्राप्त करने के पीछे कितना घोर पागलपन मनुष्य के माथे पर सवार हो जाता है— आज उसकी कल्पना करने की जरूरत नहीं है। वह तो रात-दिन का दृश्य तथा अनुभव बन गया है। आज धन और सत्ता के लिए कितनी घातक वितृष्णा फैली हुई है और कितनी बेपरवाह दौड़ धूप मची हुई है— उसकी नंगी अवस्था तो सभी देखते हैं किन्तु उसके परिणामस्वरूप सामान्य जन की तथा सामान्य नैतिकता की कितनी दुर्दशा हो रही है— उसे भी बारीकी से देखने की जरूरत है। उसे देख लेंगे तो इसे विस्तार से समझने की आवश्यकता नहीं रहेगी कि बिना समभाव के यह संसार किस प्रकार का नरककुण्ड बन जाता है, जहां चन्द लोगों के हाथों में सत्ता और सम्पत्ति की डोर रहती है और बहुसंख्यक साधारण जनता अभावों के अंधेरे में असहाय हो जाती है।

ममता की तृष्णा नरककुण्ड से भी अधिक दाहक होती है जो स्व-पर दोनों को जलाती है तथा ममत्व भाव में रचे-पचे लोगों के जीवन को तो निरर्थक बना ही डालती है। जिस जीवन को पाकर मनुष्य अपने पराक्रम,

कैसे ? सोचिये कि एक समभावी भोजन कर रहा है और उसकी थाली में मनोज्ञ पदार्थ खाने के लिए हों तो उसे हर्ष नहीं और अमनोज्ञ पदार्थ हों तो खेद नहीं। उसका सदा मध्यस्थ भाव रहता है और मध्यस्थ भाव में चूंकि राग और द्वेष तथा इनके मूल मोह–ममत्त्व भाव की अल्पता होती है, सदा सुख ही सुख अनुभव में आता है। धर्मघोष मुनि ने जब कड़ुए तूम्बे की पात्र भर सब्जी खाई तो क्या वे उस पर द्वेष भाव लाये ? वे तो अपूर्व समभावी थे–अन्त तक सुख का अनुभव करते रहे। यह तो पदार्थों की स्थिति है किन्तु एक समभावी भावों के संघर्ष में भी समदृष्टि बना रहता है, क्योंकि राग द्वेष की अल्पता में न तो वह इस व्यक्ति से क्लेशित होता है और न उस व्यक्ति से कुपित–वह तो दोनों को एक दृष्टि से देखता है तथा दोनों के समान हित की बात सोचता है। समभावी साधक को कहीं भी दुःख या खेद का अनुभव नहीं होता है।

वास्तव में एक समभावी सदा सुख और सुख का ही अनुभव करता रहता है और उसका समभाव जिस गति से अभिवृद्धि होता जाता है उसी गति से उसकी सुख वृद्धि भी सम्पन्न बनती जाती है क्योंकि वह सुख आत्मानन्द में रूपान्तरित होकर शाश्वत रूप धारण करता जाता है। वह आत्मानन्द कर्म मुक्ति का कारण होने लगता है क्योंकि रागद्वेष की मन्दतर मनःस्थिति में सांसारिकता का बीज सूखने लगता है।

आचार्य कुंद कुंद ने कहा है–

"जस्स ण विज्जदि रागा, दोसो मोहो व सव्वदघेसु।
णासवदि सुहं असुहं, सम सुह दुक्खस्स भिक्खुस्स।।"

अर्थात् जिस साधक का सभी द्रव्यों से राग, द्वेष और मोह हट जाता है और जो सुख दुःख में समत्त्व रखता है, उसे न पुण्य का आश्रव होता है और न पाप का। आशय यह है कि समभाव की उत्कृष्ट अवस्थिति में आश्रव का द्वार बन्द हो जाता है और निर्जरा का द्वार खुल जाता है। ऐसी अवस्था में एक समभावी साधक को जैसे आत्मीय सुख की अनुभूति होती है, क्या उस सुख की किसी भी अन्य सुख से तुलना की जा सकती है ? यह अतुलनीय सुख ही अभिवृद्ध होकर अव्याबाध सुख हो जाता है।

### सदा समभाव में रमण करें

ऐसे अव्याबाध सुख का जनक होता है यह समभाव, फिर क्यों नहीं किसी भी विवेकशील पुरुष का मन सदा समभाव में रमण करना चाहेगा ? आप भी गहराई से सोचेंगे तो यह चाह आपके मन में भी पैदा हो जायगी। इसलिये समभाव को साधने वाली सामायिक की नियमित और निष्ठापूर्वक आराधना कीजिये तथा इसे अति आवश्यक मानिये। ★

# आतिशबाजी त्याग

मोह और अज्ञान से आवृत्त संसारी लोग फिजूलखर्ची करते हैं। पटाखे छोड़ना फिजूलखर्ची नहीं तो और क्या है ? समय, शक्ति और पैसा थोड़े से मनोरंजन के लिए बर्बाद करना कौन सी बुद्धिमत्ता है ? अगर यह शक्ति, समय और पैसा समाज के उत्थान में लगाया जाय तो कितनों का उद्धार हो जाय ?

आतिशबाजी घोर हिंसा का कारण है। निरीह पशु–पक्षी फटाखों की आवाज से घबराते हैं और उसी घबराहट में अपने प्राण छोड़ देते हैं। अहिंसा के उपासकों ! इन फिजूलखर्चियों को बन्द करो और अपने बच्चों को इस बात का प्रण कराओ कि वे अपनी हिंसा से और अन्य जीवों की हिंसा से बचें।

"अहिंसा परमोधर्म" धर्म का मूल भाव अहिंसा है। सब पुरुषों का परम कर्तव्य बन जाता है कि धर्म की रक्षा करें। जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

# आतिशबाजी : समय, शक्ति व धन की बर्बादी

अनादिकाल से यह आत्मा इस संसार के जन्म-मरण के चक्र में निरन्तर भ्रमित क्यों हो रही है ? यह प्रश्न बुद्धि और विवेक से सम्पन्न इस मनुष्य जन्म में विशेष रूप से मननीय एवं विचारणीय है। इसलिए यह भी विचारणीय है कि आत्मा की दुरावस्था के मूल कारण क्या-क्या हैं तथा उनका निदान व उपचार करके किस प्रकार आत्मा को उत्थानगामी बना सकते है ? यदि इस अमूल्य जीवन को पाकर भी इस समस्या की सुलझन नहीं निकाली तो यह उलझन और कितनी जटिल बन जायगी- इसका सही अनुमान लगाना भी कठिन है।

आत्म स्वरूप की इस दुरावस्था के मूल में दो कारण हैं-अज्ञान और मोह। वस्तु का सत्य स्वरूप क्या है और उसके अनुसार आत्मा को अपना आचरण कैसा बनाना चाहिये- इसके प्रति जब अज्ञान बना रहता है तब तक उन्नति का सही मार्ग नहीं मिलता है। इसी अज्ञान के कारण आत्मा की मोहग्रस्त दशा बनती है। क्या ज्ञेय, क्या हेय और क्या उपादेय है-यह नहीं जान पाने के कारण आत्मा बाह्याकर्षण से ग्रसित होकर उन तत्त्वों को पकड़ती है, जो उसे मोह के दलदल में फंसाते हैं। मोह की जकड़ बहुत जबरदस्त होती है। आप तो जानते हैं कि अष्ट कर्म समूह में मोहनीय कर्म को महाबली कहा है, जिसका उपशम और क्षय दुःसाध्य होता है। मोह से संसारी आत्मा जितना छूटने का प्रयास करती है, वह नानाविध उसे ज्यादा से ज्यादा जकड़ता जाता है। समझें कि किसी व्यवसाय में आपको धन का अच्छा लाभ हुआ और इतना पैसा मिल गया कि फिर नहीं भी कमाओ तब भी जीवन सुख से व्यतीत हो जाय, फिर भी क्या आप और कमाने से रुकते हैं ? लाभ-लोभ

का क्रम आप समझते हैं और यही मोह है। जितना ज्यादा मोह उतना ज्यादा अज्ञान और जितना ज्यादा अज्ञान, उतना अधिक मोह। अज्ञान और मोह के इस वातचक्र से निकल पाना बुद्धि, ज्ञान एवं विवेक से सुसम्पन्न आत्मा के लिये भी बहुत कठिन हो जाता है।

जो कठिन होता है, उसी को साधने में इस आत्मा का सच्चा पुरुषार्थ रहा हुआ है। कठिनाई को जानना जरूरी है इसलिये कि उस पर विजय प्राप्त करनी है। कठिनाई से हताश और कुंठित होने की आवश्यकता नहीं है।

इसी अज्ञान और मोह का यह दुष्परिणाम आज विकटतर हो रहा है कि नासमझी में लोगों ने अतिशबाजी जैसी दुष्प्रवृत्ति को अपना रखा है जिसमें सार तत्त्व रत्ती भर भी नहीं है, बल्कि पूरी तरह समय, शक्ति और धन की बर्बादी है।

### आतिशबाजी की बढ़ती हुई दुष्प्रवृत्ति

आतिशबाजी का सबसे ज्यादा प्रचलन दीवाली के त्यौहार पर होता है। जैसे कि अन्य कई प्रवृत्तियों में भी बिगाड़ आया है और उनमें ढोंग व आडम्बर प्रदर्शन का समावेश हुआ है, वह रोग इस आतिशबाजी के मामले में विकराल रूप लेता जा रहा है। दीवाली पर छोटे-छोटे दीपक जलाये जाते थे जो शुद्ध रूप में प्रकाश के प्रतीक कहलाते थे, किन्तु उनके स्थान पर आजकल बिजली की भारी सजावट में जो भयंकर फिजूलखर्ची की जाती है, वह अपने ठाठ का दिखावा ही तो होता है। इसी दिखावे का नतीजा ही मानिये कि आतिशबाजी की दुष्प्रवृत्ति बुरी तरह से बढ़ती जा रही है।

इस बढ़ती हुई दुष्प्रवृत्ति का एक कारण मनोरंजन का मिथ्या विचार भी है। धमाकों की कान फाड़ने वाली आवाजों में मनोरंजन वही खोज सकता है, जिसके दिल में क्रूरता और निर्दयता होती है। मनोरंजन के ऐसे अन्य कई उपाय हो सकते हैं जो किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाते हों और आपका भी निष्पाप मनोरंजन हो जाय। इसे तो आदत की बुराई कहेंगे कि आपको अपने मनोरंजन का ध्यान हो और दूसरों के दुःख-कष्ट का नहीं। तब तो कोई इस तरह भी मनोरंजन कर सकता है कि वह किसी को बन्दूक के धमाके के साथ गोली से घायल करे और खुद हंसे। क्या आप उसके इस मनोरंजन को पसन्द करेंगे ? नहीं करेंगे- यह साफ है। फिर ऐसे ही आतिशबाजी के क्रूर मनोरंजन को आप किस तरह पसन्द करते हैं ? क्या आपको अपना ही विनोद प्रिय है, सबकी हंसी खुशी नहीं ?

दीवाली के त्यौहार पर सुनने में आता है कि लोग हजारों और लाखों रुपये तक इस आतिशबाजी में फूंक देते हैं। अगर सारे देश की इस बर्बादी का लेखा लिया जाय तो बर्बादी की राशि शायद बहुत ऊपर तक पहुंचेगी। जगह-जगह आतिशबाजी के प्रदर्शन किये जाते हैं और यह दिखाने की कोशिश की जाती है कि इस प्रदर्शन की होड़ में कौन कितना आगे जाता है ? इस होड के कारण पटाखे बनाने वाले भी अपने उत्पादनों को नया नया आकर्षण रूप देते हैं और इस तरह आग में घी डालने का काम करते हैं। वे तो देखते हैं कि उनका उत्पादन बढ़ता जाय और इससे उनका मुनाफा भी बढता जाय।

अब तो आतिशबाजी का घातक शौक इस कदर बढ़ने लगा है कि विवाह-शादी के मौकों पर तथा अन्य खुशी के अवसरों पर भी आतिशबाजी का प्रयोग किया जाने लगा है और उसके जरिये अपने पैसों का ठाठ और अपनी शान का नज्जारा दिखाने की एक तरह से कुचेष्टा की जाती है।

## प्रवृत्ति के पीछे कौनसी वृत्ति ?

यह एक माना हुआ मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई अच्छा-बुरा प्रयोजन अवश्य होता है। किन्तु आतिशबाजी के मामले में शायद यह तथ्य भी झूठा पड़ रहा है। क्या कोई ढूंढ कर बता सकता है कि इस आतिशबाजी के पीछे कौनसा सार्थक प्रयोजन है ? प्रयोजन अच्छा भी हो सकता है और प्रयोजन बुरा भी हो सकता है, लेकिन आतिशबाजी मे कोई अच्छा प्रयोजन हो-यह तो है ही नहीं, पर निश्चित किया हुआ बुरा प्रयोजन भी दिखाई नहीं देता है। यह एक निष्प्रयोजन कार्य है-यह स्पष्ट है।

फिर इस दुष्प्रवृत्ति को मनुष्य के मन की कौनसी दुष्वृत्तियां भड़का रही है ? सबसे बढ़कर तो यह उसकी बुद्धिहीनता और विवेकहीनता है। इसे भी दुष्वृत्ति ही मानिये लेकिन अपने मन के दंभ, धनगर्व और झूठे प्रदर्शन की वृत्तियों को रखे तथा उनके परिणामस्वरूप आतिशबाजी जैसी दुष्प्रवृत्ति को बढ़ावे तो ऐसी दुष्वृत्तियां अवश्य ही बुद्धि-विवेकहीन होने के सिवाय पापपूर्ण भी कहलायेगी। दूसरो से अपने को ऊंचा दिखाने की हीनवृत्ति बुरी ही होती है जो दूसरो का भला बुरा नहीं देखती है। आतिशबाजी की होड इसी हीनवृत्ति को अपना आधार बनाकर भड़काती है।

अतः आतिशबाजी के मानसिक कारणों का विश्लेषण करें तो वे होंगे-मूल में अज्ञान और मोह का विस्तार, बुद्धि एवं विवेक की न्यूनता, निरर्थक

कृत्यों में मनोरंजन की खोज, अपने आडम्बर का प्रदर्शन एवं दयाहीन हृदय। ये सब अन्त–वृत्तियों के दोष हैं, जिन्हें समझकर आतिशबाजी की दुष्प्रवृत्ति को स्वयं समाप्त करने तथा दूसरों से समाप्त कराने के कठोर प्रयास अवश्य और शीघ्र किये जाने चाहिये।

## अनर्थादंड का आशय समझें

आतिशबाजी के संदर्भ में श्रावक के आठवें अनर्थादंड विरमण व्रत के आशय को गहराई से समझना चाहिये। इस व्रत के अनुसार एक श्रावक को चार प्रकार के अनर्थादंड याने कि पापपूर्ण हिंसक कार्यों से बचना चाहिये जो निरर्थक होते हैं। इन कार्यो के कारणों में जिन वृत्तियों का उल्लेख है, वे हैं उपध्यान याने विचारहीनता, प्रमादजन्य याने आलस्यवंशात, हिंसावृत्ति एवं पापरंजित भाव। ऐसी निरर्थक कहलाने वाली सभी पाप वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का जीवन पर्यन्त के लिये दुविहं तिविहेणं से प्रत्याख्यान लिया जाता है। इस व्रत के पांच अतिचारों में भी उन प्रवृत्तियों का विवरण है जो निष्प्रयोजन होती है–जैसे काम विकार पैदा करने वाली कथा की जाय, भांड जैसी कुचेष्टाएं हों, मुखरी वचन बोला जाय, बिना किसी कारण हिंसाकारी उपकरणों का संग्रह किया या उपभोग–परिभोग व्यर्थ में बढ़ाया जाय।

अनर्थादंड विरमण व्रत का मूल आशय यह है कि व्यर्थ और निरर्थक हिंसा के कार्य कतई नहीं किये जायं। इसको इस उदाहरण से समझें कि यदि आपको स्नान करने में एक बाल्टी पानी की जरूरत है और आप फव्वारे के नीचे खड़े रहकर बेजरूरत कई बाल्टियां पानी बहा दें तो यह अनर्थादंड है। इसी तरह आतिशबाजी की समूची प्रवृत्ति ही अनर्थादंड है क्योंकि इस हिंसक पाप कार्य का ऐसा कोई भी प्रयोजन स्पष्ट नहीं है जिसे किसी भी रूप में जीवन के लिए आवश्यक समझा जाता हो। जिस पाप कार्य का कोई प्रयोजन ही न हो, फिर भी उसका सेवन किया जाय– यह विचारहीनता उसकी कालिमा को बढ़ाती ही है। अतः आतिशबाजी के निरर्थक पाप कार्यो से पूरी तरह बचें और आत्म स्वरूप को व्यर्थ ही कलंकित नहीं बनावें।

वणिक् वृत्ति से भी सोचें तो यह आतिशबाजी सिर्फ घाटे का सौदा है और ऊपर से बदनामी का भी। अच्छा–बुरा कुछ भी करें और उससे आपको कुछ भी हासिल होता हो तो वह दूसरी बात है, मगर बुरा भी करें और कर्मों को बांधे भी, लेकिन मिले कुछ भी नहीं तो ऐसी कालिख को आप अपने आत्म–स्वरूप पर क्यों पोतें ?

## समय, शक्ति व धन की फिजूलखर्ची

मोह और अज्ञान से आवृत्त संसारी लोग फिजूलखर्ची करते हैं। पटाखे छोडना फिजूलखर्ची नहीं तो और क्या है ? समय, शक्ति और धन थोड़े से झूठे मनोरंजन के लिये बर्बाद करना कौनसी बुद्धिमत्ता है ? अगर यह समय, शक्ति और धन समाज के उत्थान कार्यों में लगाया जाय तो कितनों का उद्धार हो जाय।

सभी दृष्टियों से देखें तो यह आतिशबाजी समय, शक्ति व धन तीनों की निखालिस फिजूलखर्ची है। उस समय में, उस शक्ति से तथा उस धन से कई ऐसे उपयोगी कार्य किये जा सकते हैं जिनके द्वारा व्यक्ति और समाज दोनों का हित हो। कई व्यक्तियों का जीवन इतना दुःखपूर्ण दिखाई देता है कि उन्हें आपके सहयोग के हाथ की जरूरत है। समाज और संघ को संगठित करके ऐसे सार्वजनिक हित के कार्य इस समय, शक्ति व धन का सदुपयोग करते हुए शुरू किये जायं तो उनको पूरा करके व्यक्तियों के जीवन में खुशियां लाई जा सकती हैं तथा समाज में सहयोगकारी सुव्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है। ऐसे मानवीय सहयोग के कई क्षेत्र हैं , किन्तु एक क्षेत्र को ही ले कि आश्रयहीन गरीब विधवाओं की आज कैसी दुर्दशा है ? उनके पास रोजी का उचित साधन नहीं है तो कोई उनको सही संरक्षण भी नहीं देता है। यदि आप लोग समय शक्ति और धन लगाकर उनके उद्धार के उपाय निकालें व ऐसी रचनात्मक प्रवृत्तियां चलावें तो कितना अच्छा हो कि उनके इहलौकिक और पारलौकिक दोनों जीवनों का उद्धार हो सके।

आप लोगों के लिये एक सुझाव यह हो सकता है कि अधिक नहीं, सिर्फ उतना समय, श्रम और धन आप एक सामूहिक फंड में इकट्ठा करें जितना अभी इस आतिशबाजी में बर्बाद करते हैं। मैं समझता हूं कि इन तीनो को मिला कर भी आपकी इतनी ताकत बन सकती है जिसको लेकर आप एक सामूहिक हितकारी प्रवृत्ति पूरे जोर-शोर से चला सकें। इस सुझाव को नजर में रखकर एक छोटा सा अनुमान लगाइये। समझें कि अभी ही पचास युवक आगे-आगे निकल कर आवें और प्रतिज्ञा ले कि वे आतिशबाजी का त्याग करते हैं। इस जमाने की महंगाई को देखते हुए प्रत्येक युवक सौ, दो सौ रुपये पटाखे तो छोड़ता ही होगा। सौ की राशि ही मांड ले तो यह पांच हजार का फंड तैयार हो गया। दीवाली, उसका दूसरा दिन और छोटी दीवाली का समय ही गिनें तो तीन दिन का समय हो गया। दिन के छ: घंटे ही मानें तब भी कुल भी

सौ घंटे हो गये और श्रम शक्ति इसके साथ जोड़ दीजिये। क्या इतनी पूंजी और पचास युवकों के साथ कोई भी स्थानीय उपयोग एवं महत्त्व का काम सफलता से पूरा नहीं किया जा सकता है ? यह तो एक कच्चा अनुमान है।

आतिशबाजी के त्याग का जितना विस्तार आप करते जाएं उतनी ही यह पूंजी और युवा शक्ति बढ़ती जायगी। यह कितना सुन्दर प्रयास होगा कि निखालिस फिजूलखर्ची को रोक कर आप समय, श्रम और धन को सदुपयोग की दिशा में नियोजित कर दें।

## फिजूलखर्ची : राष्ट्रीय अपराध

फिर फिजूलखर्ची राष्ट्रीय अपराध भी तो है और भारत जैसे गरीबों के देश में तो इस अपराध का आकार और भी अधिक गुरुत्तर माना जाना चाहिये। जिस देश में एक ओर करोड़ों लोग भूखमरी की कगार पर हों तथा छोटे बच्चों को दूध तक दुर्लभ हो, उस देश में आतिशबाजी जैसी निरर्थक प्रवृत्ति पर पानी की तरह पैसा बहा देना अपराध ही नहीं मानवता का घोर अत्याचार भी है। जरूरत तो इस बात की है कि फिजूलखर्चियां तो पूरी तरह से रोक दी जायं बल्कि जो उचित खर्चे हैं, उन्हें भी कम करके बचत की जाय तथा उस राशि का सदुपयोग उन गरीबों के दुःख दर्द कम करने और मिटाने के हितकारी कामों में किया जाय। सच तो यह है कि ऐसी संकटमयी परिस्थितियों में आतिशबाजी जैसी फिजूलखर्ची हकीकत में दंडनीय अपराध घोषित की जानी चाहिये।

मैं तो कहता हूं कि सरकार का काम सरकार जाने, किन्तु आप लोग अपना काम जान लें– फिलहाल तो यही बहुत है। उपरोक्त सुझाव और अपने निर्णयों को शीघ्र कार्यान्वय-योग्य बनाने का यत्न करें तो इसी वर्ष से आतिशबाजी से बचाये गये समय, श्रम और धन का सदुपयोग आरंभ किया जा सकता है।

## बुद्धिमत्ता का परिचय दीजिये

मैं तो यही मानकर चलना चाहता हूं कि आप सब विचारवान और शिक्षित हैं और इसलिये बुद्धिमान भी हैं। किन्तु बुद्धिमान होना ही पर्याप्त नहीं है, जब समय आवे, तब उस बुद्धि का परिचय भी मिलना चाहिये। आज आप अपनी बुद्धिमता का परिचय दीजिये और वह इस रूप में कि अज्ञान और मोह के आवरणों को यथाशक्ति दूर करेंगे, अपने आडम्बर के अभिमानी नहीं बनेंगे

प्रदर्शन की वृत्ति को मिटायेंगे और अपने हृदय को दया से भरा पूरा रखेंगे। सबसे ऊपर अभी आतिशबाजी का सर्वथा या मर्यादित त्याग लेंगे और किसी सामाजिक कार्य में अपना योगदान देंगे। आइये और अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दीजिये।

# पटाखों से घोर हिंसा

मानवता के मूल्यों के अस्तित्व की एक परख होती है कि आपके हृदय में कितनी दया और करुणा है ? यह एक मौलिक तथ्य है। इसी के अनुसार जीवन में आचरण का स्वरूप दिखाई देता है। हृदय में दया भाव की विद्यमानता है तो वहां मानवता भी है—न्यूनाधिकता की बात आगे की है कि उस दया भाव का विकास किया जाय तथा उसे इतना कोमल रूप दिया जाय जो किसी भी प्राणी के छोटे से दुःख को देखकर ही विगलित हो जाय और अपना सब कुछ देकर भी उसे सुख पहुंचाने की प्राणपण से चेष्टा करे।

किन्तु यदि किसी के पाषाण हृदय में दया भाव का अंकुर ही नहीं उगा हो तो वह मानवता की दृष्टि से जीवन की एक विचित्र दशा ही होगी। मनुष्य वीरान जंगलों में अकेला जिन्दगी बसर कर रहा होता और उसका अन्य मनुष्यों से सम्पर्क न होता तो दया भाव को भी शायद उतना महत्त्व नहीं मिलता, किन्तु आज ग्राम-नगरों में और विविध प्रकार के समाज संगठनों में जिस रूप में मनुष्य का जीवन अपने कई साथियों के जीवन से संयुक्त और सम्बद्ध रहता है, उसमें तो दया भाव को सर्वोच्च महत्त्व भी दिया जा सकता है। यह नहीं है कि एक मनुष्य दया करता ही हो और उसकी दया की सबको अपेक्षा रहती ही हो। आज जिसकी स्थिति दया करने की है, कल उसकी स्थिति दया पाने की भी हो सकती है। यह तो मानव समाज के बीच में सभी मनुष्यों का अपने क्षेत्र और संगठन के अनुसार कर्त्तव्य होता है कि वे आवश्यकतानुसार एक दूसरे के साथ करुणा भाव से द्रवित होकर यथाशक्ति सहयोग का विवेक रखें। दया या करुणा का भाव कोई लेन देन का माध्यम नहीं, मानवता का एक ऊंचा मूल्य है—आदर्श है जो हृदय की कोमलता को सदैव जीवन्त बनाये रखता है।

इसी कारण करुणा या दया का क्षेत्र एक या किन्हीं मनुष्यों के हृदयों तक अथवा इससे भी आगे मनुष्य समाज तक ही सीमित नहीं है। इस भाव का विस्तार समस्त संसार तक होना चाहिये। संसार के सभी प्राणी दया के पात्र हैं और वे प्राणी सबसे अधिक, जो स्वयं की जीवन रक्षा करने में असमर्थ होते हैं। अतः मनुष्य से भी अधिक वे अबोले पशु-पक्षी तथा छोटे-छोटे जीव जन्तु मनुष्य की दया के पहले पात्र हैं जिनकी प्राण रक्षा का दायित्व भी मनुष्य को निभाना चाहिये।

इस विचार से आतिशबाजी या पटाखों के धमाकों का खेल उस स्वभाव के मनुष्य ही कर सकते हैं जिनके हृदयों में कोमलता कम तथा क्रूरता अधिक होती है। जब ऐसा हो तो यही कहा जा सकता है कि ऐसे लोग मानव कम और दानव अधिक हैं।

## घोर हिंसा, घोर हानि

किसी जीवधारी के जीवन का अन्त कर देना तो हिंसा है ही, किन्तु किसी जीवधारी के प्राणों में से किसी प्राण तक को कष्टित बनाना भी हिंसा ही होती है। कई बार क्रूरता का ऐसा जघन्य कृत्य भी सामने आता है, जिसे लोग जीवनान्त से भी अधिक पीड़ादायक मानने लग जाते हैं। आपके किसी कृत्य से किसी को उसके मनः प्राण के माध्यम से इतना अधिक कष्ट महसूस हो जाता है कि वह उसे मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक मान लेता है। तात्पर्य यह है कि कष्ट पहुंचाने वाले के हृदय में दया भाव का कितना अभाव है तथा क्रूर व निर्दय भाव का कितना जोर जो उसे घोर हिंसा के कृत्यों की ओर घसीट रहा है।

आतिशबाजी और पटाखे छोड़ने के कुकृत्य में भी मनुष्य के मन का क्रूर भाव ही प्रकट होता है कि वह दूसरों की प्राण रक्षा से बेभान बनकर ऐसा हिंसापूर्ण कार्य बिना किसी उचित कारण या प्रयोजन के कर रहा है, जो अन्य प्राणियों को मात्र कष्ट पहुंचाता है और केवल हिंसापूर्ण व पापपूर्ण है। पटाखों के प्रयोग से किसी के भी भले का तो सवाल ही नहीं है और जो कुछ होता है, वह बुरा ही होता है। छोटे-छोटे जीव जन्तुओं के तो जीवन का ही नाश हो जाता है लेकिन कई बार बड़े पशु-पक्षी भी इन पटाखों से घायल हो जाते हैं। छोटे बच्चों और स्वयं पटाखे छोड़ने वालों के घायल हो जाने या मर जाने के तो समाचार भी अक्सर छपते ही हैं। यह सब हिंसा नहीं तो और क्या है?

हानि का जहां तक प्रश्न है, उसके भी कई बार समाचार छपते हैं कि पटाखे छूटने से अमुक-अमुक स्थानों पर आग लग गई और इन अग्निकांडों में अमुक अमुक सम्पत्ति जल कर भस्म हो गई। छोटी-मोटी हानियों का अनुभव तो आप लोगों को भी होता रहता होगा। तो जो कृत्य प्रत्यक्ष रूप से हिंसापूर्ण तथा हानिप्रद और तब भी निष्प्रयोजन एवं निष्परिणाम साबित होता हो, उसे पकड़ कर बैठने में आपकी कौनसी अक्लमंदी और तारीफ है ?

## निरीह पशु-पक्षियों पर कुप्रभाव

यह हिंसा और हानि तो आपको दिखाई देती है लेकिन पटाखों का निरीह पशु-पक्षियों के प्राणों पर कितना कुप्रभाव पड़ता है- शायद उस ओर तो आपका ध्यान भी नहीं जाता होगा। कहते हैं कि आजकल तो ऐसे बड़े-बड़े पटाखे निकल गये हैं जिनके धमाकों के छोटे छोटे बच्चों के तो क्या- बड़ों तक के कान के पर्दे फट जाते हैं या क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। फिर कि सोचिये उनका असहाय पशु-पक्षियों की जिन्दगियों पर कैसा मारक असर पड़ता होगा।

पटाखों से क्रूर मनोरंजन की चाह रखने वाले कई निर्दयी लोग कुत्तों की पूंछ से पटाखों की लड़ें बांधकर उनके धमाकों से कुत्ते की घबराहट भरी उछल-कूद को देखकर खुश होते हैं। क्या उनके क्रूर दिलों में दया भाव की विद्यमानता तक मानी जा सकती है जो किसी प्राणी के प्राणहनन पर हंसते और खुशी मनाते हों ? वे तो उस समय मनुष्य क्या पशु भी नहीं रहते, बल्कि राक्षस हो जाते हैं।

ध्यान रखिये, आतिशबाजी घोर हिंसा का कारण है। निरीह पशु-पक्षी पटाखों की आवाजों से घबराते हैं और उसी घबराहट में अपने प्राण छोड़ देते हैं। इसलिये अपने आपको अहिंसा के उपासक मानने वालों, जरा गहरे उतर कर सोचो और आतिशबाजी जैसे दुष्कृत्यों की फिजूलखर्ची को जल्दी से बन्द करो। अपने बच्चों से भी इस बात का प्रण कराओ कि वे अपनी हिंसा से और अन्य प्राणियों की हिंसा से बचें।

## बड़े लोगों की फिजूलखर्ची : छोटों की बुसीबत

आतिशबाजी का हिंसा भरा शौक बुरा तो है ही, लेकिन खर्चीला भी है। बड़े और पैसे वाले परिवारों के लोगों को तो भारी पैसा उड़ाने में कठिनाई नहीं होती है लेकिन देखा देखी की भगती में छोटे लोगों की मुसीबत हो जाती है। छोटे परिवारों के बच्चे जब देखा-देखी नये-नये पटाखों की मांग और जिद

करते हैं, तब उनके माता-पिता परेशानी में पड़ जाते हैं। सन्तान की ममता भी उन्हें झकझोरती है तो खाली जेब भी। किसी तरह उचित खर्चों को काटकर वे अपने बच्चों की थोडी बहुत जिद्द पूरी करते हैं और फिर आर्थिक कष्ट उठाते हैं। ऐसे माहौल में बडे लोगों को अपनी इस फिजूलखर्ची पर गुमान बढ़ जाता है और वे पटाखों के दिखावे को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाते रहते हैं।

अब समय आ गया है कि आतिशबाजी की इस फिजूलखर्ची को पूरी तरह से बन्द करने के काम में पहले बड़े और पैसे वाले परिवारों के लोग आगे आवें और आतिशबाजी का पूर्ण त्याग करें। यदि ऐसा हुआ तो अन्य लोग भी प्रसन्नतापूर्वक इस पापपूर्ण एवं हानिप्रद कृत्य का त्याग कर देंगे। पटाखों के क्रूर शौक को छोड़ देने में सबका लाभ ही लाभ है।

## दया की सरिता बहाएँ

अपने-अपने दिलों में दया का संचार करके आतिशबाजी के इस क्रूर कर्म तथा इससे होने वाले घातक परिणामों के बारे में गंभीरतापूर्वक विचार कीजिये तथा समय-समय पर प्रकाशित होने वाले हानि के तथ्यों व आंकड़ों को सामने रखिये—फिर सही निर्णय लीजिये और संकल्पपूर्वक इस बुराई को मिटा देने के लिये अपनी कमर कस कर रचनात्मक रीति से कर्म क्षेत्र में कूद पड़िये। यह कर्म क्षेत्र इस बात का होगा कि पटाखों के प्रयोग से किसी भी त्यौहार या विवाह आदि के प्रसंग पर हिंसा नहीं की जाय तथा दूसरों को भी ऐसी हिंसा नहीं करने की प्रेरणा दी जाय। यह अपने आप में एक प्रबल अभियान बन जाय।

किन्तु ऐसा प्रबल अभियान आप तभी चला सकेंगे, जब सबसे पहिले आप स्वयं इस हिंसक कृत्य का त्याग करके अपने उदाहरण को दूसरों के सामने रखेंगे। लोग खाली कहना नहीं सुनते हैं, वे देखते हैं कि आपने क्या किया है। कोरा कहने का कोई असर नहीं पड़ता है—करने का असर होता है। इस कारण आप ही पहले आगे आवें और प्रतिज्ञा करें कि दीपावली का त्यौहार हो या विवाह शादी का अवसर—आप आतिशबाजी या पटाखों का प्रयोग कतई नहीं करेंगे। जब आपके त्याग की बात दूसरे जान लेंगे और आप उनको भी इस त्याग के लिये कहेंगे तो सही मानिये कि आपको अपने इस अभियान में भारी सफलता मिलती जायगी।

हुआ नहीं है जो अनिवार्य हो। इसके विपरीत यह हिंसक शौक तो भौंडे और पीड़ादायक मनोरंजन का निन्दनीय प्रतीक मात्र है। परिणामों के साथ सोचें तो ऐसे निरर्थक मनोरंजन को अपनाना या अपनाये रखना हास्यास्पद बुद्धि का ही परिचय देता है। अभिप्राय यह कि पटाखों का प्रयोग सभी दृष्टियों से सिर्फ हेय है।

ऐसे एकान्त हेय विषय में अपने आपको अटकाए रखना किसी भी नजरिये से उचित नहीं कहा जा सकता है। अतः अतिशबाजी की हिंसा को त्यागने में किसी खास सोच विचार की जरूरत नहीं है। मैं आग्रह करूंगा कि आप लोग इस व्यर्थ हिंसा रूप अनर्थादंड का तुरंत त्याग ले लें। फिर भी कोई युवा या बालक तुरन्त सम्पूर्ण त्याग के लिये शीघ्र अपना मानस नहीं बना सकें तो इस समय कम से कम अपने आपको मर्यादित तो बना ही लें, ताकि आगे जाकर सम्पूर्ण त्याग ले सकें। मर्यादा इस रूप में कि यदि वे सामान्य रूप से वर्ष भर में दो सौ रुपये के पटाखों का उपयोग करते हों तो उस सीमा को घटाकर पचास रुपये तक ले आवें। आतिशबाजी जैसे क्रूर मनोरंजन के त्याग में सभी सहर्ष भागीदार बनें—यह वांछनीय है।

## अहिंसा ही धर्म का मूल

अहिंसा को परम धर्म इसीलिये कहा गया है कि इसके आचरण में धर्म का मूल भाव तथा धर्म के सभी पहलुओं का समावेश हो जाता है। एक अहिंसक सभी प्रकार से धार्मिक पुरुष होता है। वीतराग देवों ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट मार्गदर्शन दिया है। सूत्रकृतांग सूत्र (1–1–4–10) में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि—

"एयं खु नाणिणों सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चैव, एतावन्तं वियाणियां।।"

अर्थात् ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करें। अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है—बस इतनी सी बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये।

कितनी सी बात ? सिर्फ इतनी सी कि अहिंसा का पालन किया जाता है तो उसका समतामय स्वभाव अवश्य ढलेगा तथा इस प्रकार का अहिंसामूलक समता में धर्म का सम्पूर्ण सार सुप्रकट हो जाता है—यह मान लीजिये। समता श्रेष्ठतम होती है किन्तु उसका मूल अहिंसा में रोपा हुआ होना चाहिये। आशय

यह है कि धर्म की सम्पूर्ण साधना तथा आत्म विकास का मूल इस अहिंसा के अनुसरण में रहा हुआ है।

ऐसी सूक्ष्मस्वरूपी अहिंसा का मार्ग–दर्शन वीतराग देवों ने किया है, जिनके आप अपने आपको अनुयायी मानते हैं। लेकिन साथ में यह भी सोचिये कि सच्चा अनुयायी किसे कहते हैं ? क्या उसे, जो अपने आपको अनुयायी कहता है अथवा उसे जो उनके मार्गदर्शन में अपने आचरण को तदनुरूप ढालता है ? यह निर्णय आप स्वयं ही लीजिये।

### अहिंसा का पालनः प्रत्येक का कर्त्तव्य

एक दूसरे के परस्पर गुंथे हुए हितों वाले इस समाज में रहते हुए क्या प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य नहीं बनता है कि वह पूर्णतया अहिंसा का पालन करे। अहिंसा के पालन से वह दूसरों के हितों की ही रक्षा नहीं करेगा, बल्कि उसके अपने हित भी दूसरों के द्वारा संरक्षित हो सकेंगे। अहिंसा का पालन इस दृष्टि से पारस्परिक हितसाधना का विषय है–मात्र उपकार का विषय नहीं। इसी कारण इसे कर्त्तव्य कहा गया है।

जिस समय सामूहिक रूप से समाज के हाथ से अहिंसा का पल्ला छूट जाता है, उस समय की असुरक्षामय परिस्थिति पर एक क्षण विचार तो कीजिये। यह तथ्य देखने, सुनने या पढ़ने से आप लोगों के अनुभव में अच्छी तरह से आता होगा कि जब किसी नगर या क्षेत्र में कोई साम्प्रदायिक दंगा हो जाता है, तब कैसा वातावरण बन जाता है ? हिंसा से पागल बने हुए लोग एक दूसरे सम्प्रदाय के लोगों की नृशंस हत्याएं करते हैं, उनके मकान, दुकान, कारखाने जलाते हैं और अकरणीय हिंसक कृत्यों पर राक्षसों की तरह अट्टहास करते हैं। सब ओर मार–काट मच जाती है और सब जैसे हिंसा के उन्माद से क्रूर बन जाते हैं। क्या उस वातावरण में किसी की भी सुरक्षा की गारंटी होती है ? जो उस हिंसा से दूर बैठा है, क्या वह भी सर्वथा सुरक्षित रह सकता है ? इस परिदृश्य में ध्यान कीजिये कि व्यक्ति की और समाज की सुरक्षा के लिये अहिंसा का सामूहिक रूप से पालन आवश्यक ही नहीं, अत्यन्त अनिवार्य भी है।

अहिंसा पालन के कर्त्तव्य से गिरने का अर्थ है कि अपनी और सबकी सुरक्षा को खतरे में डालना। किसी एक व्यक्ति की छोटी सी भूल [illegible] अहिंसा पालन के कर्त्तव्य में छोटी सी चूक से कई बार [illegible] सकती है और सैकड़ों निर्दोष प्राणियों का होम हो जाता है। क्या इस पर आप [illegible]

नहीं सोच सकते हैं कि अहिंसा पालन का कर्त्तव्य कितनी तत्परता एवं सतर्कता के साथ निभाया जाना चाहिए ? और उन लोगों को तो अधिक सतर्क रहना चाहिये अपने स्वयं के आचरण के प्रति, जो अहिंसा को परम धर्म मानते हैं तथा अपने आपको अहिंसा के उपासक बताते हैं। कितना वांछनीय है इन लोगों के लिये कि वे आतिशबाजी जैसी निरर्थक हिंसा का अविलम्ब त्याग कर दें ? इसमें ज्यादा सोचने की कोई बात नहीं है।

## धर्म से रक्षित धर्म की रक्षा से

" अहिंसा परमोऽधर्म" से धर्म का मूल भाव अहिंसा है। सब पुरुषों का परम कर्त्तव्य बन जाता है कि धर्म की रक्षा करें। जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

आप धर्म की रक्षा करें, धर्म आपकी रक्षा करेगा—इस कथन का गूढ़ार्थ यही है कि जब आप अहिंसा धर्म का पालन करेंगे तो आपकी स्वयं की आत्मा में वह शक्ति उत्पन्न हो जायगी जो किसी भी संकट में आपकी रक्षा कर सके। वही आत्म शक्ति आपकी भी रक्षा करेगी तो दूसरों की भी रक्षा करेगी। सभी परस्पर रक्षित होते हुए मानव धर्म की पूरी निष्ठा के साथ रक्षा कर सकेंगे। धर्म की रक्षा करके ही धर्म से रक्षित हुआ जा सकता है।

अहिंसा मूलक समता ही धर्म के सम्पूर्ण स्वरूप की परिचायिका है तथा इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अहिंसा मात्र एक कर्त्तव्य ही नहीं है अपितु समग्र जीवन शैली है, जिसका सभी को ध्यानपूर्वक अनुसरण करना चाहिये। यही 'जिओ और जीने दो' के सिद्धान्त का सार है। जीवन शैली का अर्थ होता है कि जीवन के प्रत्येक विचार, वचन और व्यवहार में सर्वत्र हिंसा के त्याग का भाव हो तथा अहिंसा को अपनाने की निष्ठा। किसी अन्य प्राणी को किसी भी प्रकार से कष्ट नहीं पहुंचाना— इतना सा संकल्प भी यदि बराबर निभता जाय तो धीरे—धीरे व्यक्ति की ही नहीं, सारे समाज की जीवन शैली भी अंहिसामय बन सकती है।

## सच्चे अहिंसक बनें

कहलाने मात्र के ही नहीं, सच्चे अहिंसक बने, ताकि सच्चे धार्मिक बन सकें—यही सम्पूर्ण उपदेश का सार संक्षेप है। इस समय जो चर्चा का विषय है उससे आप अच्छी तरह परिचित हो गये हैं। आप अधिक उच्च्य कोटि के अहिंसक और धार्मिक बनें— इसके लिये सतत पुरुषार्थ करते रहिये, लेकिन

निष्प्रयोजन और निरर्थक हिंसा को त्याग देने मे तो कतई प्रमाद मत कीजिये तथा आतिशवाजी और पटाखों के प्रयोग से स्वयं को स्वेच्छा से अवश्य ही प्रतिवंधित वना लीजिये। जागृति के क्षण वार–वार नहीं आते हैं– यह सोचकर शुरू से निर्णय लेने में देर न कर।

## समता समाज सदस्यता

卐 आतंकवाद की बढ़ती हुई विषाक्त विषधारा को समाप्त करने के लिए समता समाज आवश्यक ही नहीं अनिवार्य बन गया है।

卐 यह समाज कोई व्यक्ति, जाति, पार्टी या वर्ग विशेष का न होकर सम्पूर्ण मानव जाति का जीवंत संगठन बने जो बिना किसी भेद भाव के सिर्फ मानवीय धारणाओं को लेकर मानवता, नैतिकता, आध्यात्मिकता का निर्माण करे।

# 1

## समता समाज क्या और क्यों ?

समता समाज का नाम सुनते ही मन में प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह नया संगठन कैसा और इसके उद्देश्य क्या हैं ?

समता समाज को समझने के लिये पहले संक्षेप में समता को समझ लें।

आज मनुष्य के मन से लेकर सम्पूर्ण विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न स्वरूपी विषमता के भिन्न-भिन्न रूपों का जिस विषाक्तता के साथ विस्तार होता जा रहा है वह सम्पूर्ण मानव जाति के अस्तित्व के लिये ही भयावह बन गया है। विषमता का आतंकवाद के रूप में पनप रहा नया विकराल मुखौटा तो मानवता के समग्र मूल्यों पर ही प्रश्नचिह्न लगा रहा है।

हजारों वर्षों के अन्तराल में मनुष्य ने अपनी दार्शनिकता, संस्कृति, सभ्यता एवं परम्पराओं का जो विकास किया है, वह एक दुर्लभ उपलब्धि है। हिंसा के गलियारों से निकल कर कितनी सचेष्टता के साथ मनुष्य अहिंसा के धरातल पर उतरा है, मिथ्या आवरणों को छेद कर सत्य दर्शन के लिए उत्सुक बना है, असमानताओं की व्यथा से विगलित होकर बहुआयामी समानता हेतु आन्दोलित हुआ है, पाशविकता के क्रूर घेरों को तोड़कर मानवीय मूल्यों की दहलीज से आगे बढ़ा है और जागतिक एकता के लक्ष्यों को उजागर कर रहा है। उसने वैज्ञानिक अन्वेषणों एवं अनुसंधानों की ऊंचाइयों का स्पर्श किया है तो इसलिए कि वे मानव जाति की सुरक्षा की ढाल बनें और उसकी सुख-सुविधाओं का विकास हो। उस ने अध्यात्म, धर्म, साहित्य, कला आदि के क्षेत्रों में सूक्ष्मतम विचार सरणियों में प्रविष्ट होकर अपनी कला और कौशल का चमत्कार दिखाया है। उसने अधिनायकवादी तन्त्रों तथा सामन्तवादी व्यवस्थाओं से आगे बढ़कर लोकतंत्र और समाजवादी जैसी शासन प्रणालियों को जन्म

दिया है। आज भी अपनी मौलिकता में मनुष्य अपनी जाति की ऊर्ध्वगामी एकता की दिशा में आगे से आगे कदम बढ़ाते रहने को तत्पर है।

यह दूसरी बात है कि इस शताब्दी ने निहित स्वार्थी और विघटनकारी तत्त्वों ने उस को क्षत-विक्षत किया है—उसकी गति को खंडित करने की कुचेष्टा की है और विषमताओं के जाल को फैलाया है। यह अन्तरिम संकट है। मनुष्य टूटा नहीं हैं, वह इस संकट को झेल लेगा और सफलतापूर्वक आगे बढ़ जायगा।

इस अन्तरिम संकट में मनुष्य टूटे नहीं, उसकी समता का सपना छूटे नहीं– इसी हेतु एक संगठन की आवश्यकता है, जो मुट्ठी भर विघटनकारियों से संघर्ष कर सके और सम्पूर्ण मानव जाति में समतामय प्रगति का नया विश्वास भर सके। ऐसे ही संगठन का रूप लेना चाहिये समता समाज को जो मानव जाति की मौलिक एकता को साधे तथा बहु आयामी समता की समरसता का सबको पान करा कर आध्यात्मिक समुन्नति का पथ प्रशस्त कर दे।

## नया संगठन नहीं, नया आन्दोलन

समता समाज वर्तमान विश्व में चल रहे हजारों-लाखों संगठनों में एक संगठन की बढ़ोतरी करने का इच्छुक नहीं होना चाहिए। वह तो एक महत्त्वहीन स्थिति होगी। वह जब भी संगठन बनेगा, तक सम्पूर्ण मानव जाति का ही संगठन बनेगा। अभी तो वह एक आन्दोलन के रूप में चले– एक ऐसा आन्दोलन जो हताश और कुण्ठित मानवता को जगा सके, उसे विघटनकारियों से सफल संघर्ष करने की प्रेरणा दे सके तथा मानवीय मूल्यों की ज्योति को ऊपर उठा कर सब ओर नया प्रकाश फैला सके।

समता समाज एक ऐसे व्यापक आन्दोलन के रूप में आगे बढ़े जिसे प्रत्येक देश और वर्ग का मनुष्य उसे सम्पूर्ण जाति के लिए हितावह मानकर अपनावे। किसी भी शुभ कार्य का विस्तार तुरन्त नहीं हो जाता है, किन्तु उसका स्वरूप अवश्य सुस्पष्ट होना चाहिये कि वह विस्तार योग्य है और विस्तृत बन कर अपने घोषित लक्ष्यों की सम्पूर्ति कर सकेगा। हजारों गज में विस्तार पाने वाले विशाल वट वृक्ष को भी एक राई जैसे बीज से ही आरोपित एवं अंकुरित करना होता है। किन्तु उसके अंकुरण के प्रति सबका यह विश्वास होता है कि वह एक दिन अधिकतम विस्तार को प्राप्त करेगा एवं अधिकतम सुशीतल छाया देगा। इसी रूप में समता समाज का विकास होना चाहिए। उसे सबका मानवता के आधार पर ही विश्वास भी मिले तो सहयोग भी।

विकास की इस प्रक्रिया में ही समता साधकों को संगठित होकर जुट जान
चाहिए।

## व्यक्तित्व का विकेन्द्रीकरण

समता समाज क्या करेगा, किन उद्देश्यों को सामने रखेगा तथा कि
विधि से अपने आप को एक आन्दोलन के रूप में ढालेगा– इस पर ए
सिंहावलोकन आवश्यक है।

व्यक्ति एक मूल घटक होता है। किसी भी सामूहिक संगठन, आन्दोल
अथवा प्रगति को गति देने के लिये उसके ही सहयोग एवं पुरुषार्थ की अपेक्ष
रहती है। सुविधा के लिये व्यक्ति के दो पक्ष मान लें– व्यक्तिगत पक्ष औ
सामाजिक पक्ष। दोनों पक्ष समन्वित हों तथा साथ-साथ क्रियारत रहें– य
व्यक्ति का सत्प्रयास होना चाहिये।

व्यक्ति का निजी पक्ष यह होता है कि वह सुख-सुविधा से रहे त
अपने जीवन में ऊंची से ऊंची उन्नति करे। सुख-सुविधाएं कैसी और उन्न
क्या– इसका निर्धारण उसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य से होता है। जीवन निर्वा
हेतु मूलभूत आवश्यकताएं सबको सुलभ हों और आगे पदार्थों की सुविधाओं
सबके साथ समानता का व्यवहार रहे। जब प्रारम्भ से मानवीय मूल्यों
सर्वाधिक बल दिया जायगा तो इस भौतिक सुख-सुविधा का महत्त्व घ
जायगा और भावनात्मक सुख के प्रति सबकी अभिरुचि का विकास होगा।
विकसित अभिरुचि ही उसकी वास्तविक उन्नति का सही स्वरूप निर्धा
करेगी। इसे समता की साधना का प्रारम्भिक भाग दिया जाय।

रखे। यही उसके व्यक्तिगत के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया होगी कि समता साध
ाक अपने ही लिये नहीं, सबके लिये जिए। एक को जानकर सबको जाने तथा सबको जानकर एक को जाने।

## भीतर बाहर की विषमताओं से संघर्ष

समता समाज का मुख्य मोर्चा लगना चाहिए भीतर बाहर की विषमताओं के विरुद्ध —व्यक्तिगत और सामजिक विषमताओं के विरुद्ध। भीतर की विषमताएं व्यक्ति के ही मन में उपजती हैं और वह अपने मन का समुचित निग्रह एवं दिशा परिवर्तन करने में विफल होता है तो वे विषमताएं उसके स्वयं के जीवन को विषाक्त बनाती हैं जो विष समाज की रगों में भी घुलता रहता है तथा समाज के सभी व्यवस्था सूत्रों को विषाक्त बना कर सर्वहित को प्रदूषित कर देता है। यही प्रदूषण भीतर की विविध वृत्तियों में तथा बाहर की विभिन्न प्रवृत्तियों में विष धारा को आगे से आगे बहाता रहता है। सामान्य विषमता से लेकर आतंकवाद की बढ़ती हुई विषाक्त विषधारा को समाप्त करने के लिए समता समाज का आन्दोलन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य बन गया है।

समता समाज को योजनाबद्ध रीति से भीतर बाहर की इन विषमताओं के साथ सतत संघर्ष करना होगा। इस संघर्ष के दो मोर्चे होंगे—पहला तो यह कि वर्तमान विषमताओं की खाई और अधिक चौड़ी न हो—विषमताओं को और अधिक फैलने न दिया जाय। दूसरे, निरन्तर पाटते रह कर खाई की चौड़ाई कम की जाती रहे ताकि एक दिन खाई पूरी तरह पट जाय और समता का समतल धरातल सबको सुलभ हो जाय। यह संघर्ष कठोर भी हो सकता है तो श्रमसाध्य भी। सच तो यह है कि यही संघर्ष सभी समता साधकों के पुरुषार्थ, उत्साह और धैर्य की कसौटी बनेगा।

## व्यक्ति के पांव : समाज के धरातल

समता साधक का प्रारम्भ से ही यह प्रयास रहेगा कि वह व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों व हितों में इस भांति तालमेल बिठाता रहे, जिससे समतामय स्थिति लाने में वे पूरक शक्तियां बनें। समाज व्यक्ति को धरातल दे तो व्यक्ति उस पर सधी हुई गति से चले तथा समता सदन का निर्माण करे।

इस तालमेल का स्रोत होगा व्यक्तित्त्व का विकेन्द्रीकरण तथा उद्देश्य होगा मिलकर भीतर बाहर की समस्त विषमताओं से संयुक्त संघर्ष। यह तालमेल व्यक्ति और समाज की गति में निरन्तर सधता रहेगा। व्यक्ति की समता साधना का लक्षण होगा कि चलने के लिये और गंतव्य तक पहुंचने के

लिये उसके पांवों की शक्ति व क्षमता सबल बनती रहे। साथ ही सामाजिक समता-सहयोग से धरातल समतल होता रहे, जिससे विभिन्न विषमताओं के बीच रहने वाली सभी मानव वर्गों की एकता संगठित होगी। पांच सशक्त और धरातल समतल–तब उस गति में कौन बाधा डाल सकता है ? पांव दुर्बल हो और धरातल समतल हो, तब भी विशेष प्रयास से चाल बढ़ाई जा सकती है, किन्तु पांव सशक्त भी हों तो पर धरातल पूरी तरह ऊबड़–खाबड़, बीहड़ और कंटीला, कंकरीला हो तो वे सशक्त पांव भी लड़खड़ा सकते हैं। इस दृष्टि से व्यक्तिगत एवं सामाजिक शक्तियों को एक दूसरे का पूरक होना आवश्यक है।

व्यक्ति के सशक्त पांव समाज के समतल धरातल पर गति और प्रगति करने लगेंगे, तब सकल विश्व में समता का विस्तार तथा मानव जाति की समतामय एकता दुष्कर नहीं रहेगी। ऐसा समता सदन निर्मित होकर ही रहेगा जो सारी मानव जाति का साधना केन्द्र बने।

## स्वार्थों व विचारों के टकराव का अन्त

समता समाज इस समुज्ज्वल उद्देश्य को सदा अपने समक्ष रखेगा कि विश्व में सर्वत्र स्वार्थों एवं विचारों के टकराव का सदा के लिये अन्त हो जाय तथा समता की रस–धारा में सभी डूबें–उतरावें–एकमेक बन जावें।

वर्तमान विश्व में जहां जहां जितने भी टकराव हैं, उन्हें दो वर्गों में बांट सकते हैं। एक स्वार्थों का टकराव तथा दूसरा विचारों का टकराव। समता-साधकों को दोनों टकरावों से सम्बन्धित पृष्ठ भूमि का ध्यान में रखकर वैचारिक एवं आचार गत विकल्पों के साथ दोनों प्रकार के विग्रहों को समाप्त करना होगा।

स्वार्थों का टकराव होता है धन, सम्पत्ति, सत्ता तथा सुख–सुविधा के पदार्थों के विषम वितरण एवं मानव जाति के बहुसंख्यक सदस्यों को जीवन निर्वाह की मूल भूत आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं हो पाने के कारण। इस टकराव के कारण प्रत्यक्ष होते हैं, अतः समता साधकों को अहिंसामय जीवन शैली का प्रसार करना होगा जिसके अनुसार सभी मानव इस संकल्प को आत्मसात कर लेंगे कि उनके कारण किसी भी अन्य प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुंचे। यही नकारात्मक संकल्प परिपुष्ट होकर करुणा, सहानुभूति, सहकार का सकारात्मक रूप ग्रहण करता जायगा।

विचारों का टकराव मिटाना होगा, विचारों के समन्वय से और इस धारणा के प्रसार से कि सभी विचारों में सत्यांश होता है तथा अलग–अलग को

जोड़ कर पूर्ण सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। इस टकराव को समाप्त करने के लिये दो बातें की जायं—एक तो अपने ही विचार को पूर्ण सत्य मानने का हठ न करें और दूसरे किसी भी विचार का तिरस्कार न करें— उसमें जितना भी हो, सत्यांश को समेटें। अपने विचार को ही सत्य मानने का हठाग्रह उसमें रहे सत्यांश को भी मिथ्या बना देगा तथा किसी भी विचार के तिरस्कार से कटुता बढ़ेगी और समन्वय कठिन हो जायगा।

समता साधक समभाव के साथ इन टकरावों को सबको समझावेंगे और सबके साथ सुलझावेंगे।

## समभाव का सदा और सर्वत्र प्रचार

समता का मूलाधार होता है समभाव—जो मनुष्य के मन से उपज कर सम्पूर्ण विश्व को अपनी शीतल छाया से ढक लेता है। इसी छाया में व्यक्ति का बाह्य एवं सामाजिक विकास सफलता की सीढ़ियां चढ़ता है तो व्यक्ति की अन्तरंग यात्रा इहलोक एवं परलोक की सीमाओं तक समुन्नत बनती है। सब ओर संशोधन और नव सर्जन की लहर फैल जाती है। समभाव का विशाल वटवृक्ष ही समता के लौकिक और अलौकिक स्वरूपों में प्रतिफलित, पल्लवित और पुष्पित होता है।

क्या होता है ऐसा सुन्दर समभाव ? तीर्थंकर देवों की उपदेश—धारा में समभाव का सुन्दर कमल खिला हुआ है—उसे देखिये, अपनाइये और आनन्द लीजिये। सूत्रकृतांग सूत्र (1–10–6) में भगवान का वचन है कि—

"सव्वं जगं तू समयाणु पेही।
पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा।।"

अर्थात् समग्र विश्व को जो समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है और न किसी का अप्रिय। समदर्शी अपने पराये की भेद बुद्धि से परे हो जाता है। क्या भावार्थ है इस गाथा का ? समभाव की साधना को परिपक्व तभी माना गया है, जब समग्र विश्व एक और एकरूपता में दिखाई दे—इतना एक कि उस परिदृश्य में से व्यक्ति ओझल हो जाय। वह किसी एक का प्रियकारी भी नहीं करेगा और अप्रियकारी भी नहीं, क्योंकि किसी एक का प्रियकारी किसी दूसरे का अप्रियकारी हो सकता है। अपनी उच्चस्थ श्रेणी में वह समदर्शी हो जायगा—सबका प्रियकारी करेगा और सबका अप्रियकारी नहीं करेगा।

समता समाज को समभाव के इस प्रकार के विकास को अपने ध्यान में लेना होगा ताकि वह अपने साधकों को इस आदर्श के साथ कार्यरत होने की प्रेरणा दे सके।

## समता-साधक निर्भय हों, कर्मठ हों

समता समाज का पृष्ठ बल होगा उसके समता साधकों का दल। समता समाज का मूल स्तर इन्हीं समता साधकों के कंधों पर निर्मित होगा। इस कारण समता समाज का सदस्य होकर जो भी समता–साधक बनता है, उसे अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों का पूरा ध्यान रहना चाहिये। समभाव एवं समता का सर्वोच्च आदर्श सदा उसके सम्मुख रहे।

यही वीतराग वाणी है–"सामाइ माहु तस्स जं, जो अप्पाण भए ण दंसए" (सूत्र कृतांग सूत्र 1–2–2–17) कि समभाव उसी को रह सकता है जो अपने को प्रत्येक प्रकार के भय से मुक्त रखता है। अतः समता साधक प्राथमिक तौर पर निर्भय होकर कार्यारंभ करे तथा निष्ठापूर्वक अपने कार्य को इस तरह फैलाता और गहरा जमाता जाय कि वह कर्मठ कहलाने लगे।

कहावत है कि 'असंभव' शब्द मूर्खों के शब्द कोष में होता है। समता समाज का स्वरूप और इसके उद्देश्य आज असम्भव लगते हों किन्तु हैं नहीं, दुःसाध्य हो सकते हैं जिन्हें समता साधकों का उफनता हुआ उत्साह साध सकता है।

सुगंध विश्व के सभी भागों में प्रसारित हो जाय– यही समता, समाज एवं उसके सदस्यों का श्रमसाध्य लक्ष्य रहे। इसी लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए समाज को अपनी प्रवृत्तियों का प्रसार करना होगा तथा अपने स्वरूप का विस्तार।

यह कोई छोटा और सरल कार्य नहीं होगा। अपने स्तर पर प्रत्येक सदस्य को समभाव के अनुरूप अपने सर्वतोमुखी व्यवहार पर टिके रहना होगा और अपने ही उदाहरण से दूसरों को समता के हित में प्रभावित करना होगा। यह स्व–निर्माण के साथ पर–निर्माण का ऐसा गतिशील क्रम होगा कि प्रत्येक पर–निर्माण, स्व–निर्माण होकर पर–निर्माण के क्षेत्र में प्रगतिशील रहेगा– एक बात से दूसरी और दूसरी से तीसरी तथा इस तरह आगे से आगे हजारों–लाखों बतियाँ जलाते रहने के समान। इस हेतु अथक गतिशीलता अनिवार्य होगी।

**3. अहिंसा पर आधारित सामाजिक न्याय–**

छोटे स्तर पर हो या बड़े स्तर पर, छोटे क्षेत्र में हो या बड़े क्षेत्र में अथवा छोटे पैमाने पर हो या बड़े पैमाने पर–सर्वत्र तथा सदा सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा हो और वह बनी रहे– यह समता समाज का मूल पुरुषार्थ रहेगा क्योंकि सामाजिक न्याय की भित्ति पर ही बहुमुखी समता के आदर्श प्रासाद का निर्माण किया जा सकेगा। यह समाजिक न्याय राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में प्रतिष्ठित किया जाय।

इस सामाजिक न्याय की स्थापना का मुख्याधार होगा अहिंसा का सिद्धान्त। इस अहिंसा सिद्धान्त की सूक्ष्मतम भावनाएं व्यवहृत की जायंगी और आचरण की बारीकियाँ इसी कसौटी पर परखी जाती रहेगी तथा आवश्यक संशोधन एवं परिमार्जन किया जाता रहेगा। "जीओ और जीने दो" की भावना को "जीओ और जिलाओ" की ऊँचाई तक ले जाने का उपक्रम किया जायगा।

**4. सत्य को सर्वोच्च स्थान–**

समता समाज सत्य को सदा सर्वोच्च स्थान देना। अपने विचार–सत्य को हठ के वातचक्र में नहीं डालेगा तो बिना किसी पूर्वाग्रह के सामने आने वाले प्रत्येक विचार का समादार करेगा और उसमें रहे हुए सत्यांश को स्वयं समझेगा तथा उससे उस विचार वाहक को भी सन्तुष्ट करेगा ताकि समन्वय का वैचारिक वातावरण परिपुष्ट होता रहे और सबके मन में पूर्ण सत्य को साकार करने की अभिलाषा जागृत बने।

समाज हठवाद, मिथ्यावाद अथवा पूर्वाग्रहवाद का प्रत्येक चरण पर डटकर मुकाबिला करेगा किन्तु समभाव के साथ और हृदय-परिवर्तन के लक्ष्य को दृष्टिगत रखकर। उसका प्रत्येक प्रयास सत्य के किसी न किसी पहलू को उजागर करते रहने का होगा जिससे सत्य की शोधक वृत्ति को बल मिले। सत्य इस समाज का श्रेष्ठ आराध्य रहेगा।

5. व्यक्ति और समाज की शक्तियों का सामंजस्य–

समता समाज अपने प्रत्येक प्रवृत्ति के संचालक में इस प्रयास को प्रमुखता देगा कि प्रत्येक चरण पर व्यक्ति और समाज की शक्तियों का सामंजस्य किया जाता रहे तथा दोनों शक्तियों के समन्वित सहयोग से समता विस्तार के जटिल अभियान को सरल बनाया जाता रहे। इसका स्पष्ट परिणाम सामने आयगा कि व्यक्ति अपने कार्य में सामाजिक सहयोग से प्रोत्साहित होता रहेगा तो समाज व्यक्ति के विकास से प्रेरणा पाता रहेगा।

## गुणवर्ग याने गुणाधारित वर्गीकरण

समता समाज को अपने सदस्यों का चयन करने में धन, सम्पत्ति, सत्ता, प्रभाव, पद या अन्य किसी प्रकार के आधार की दरकार नहीं होगी। उसका एक ही आधार होगा–गुणवत्ता का आधार। यह गुणवत्ता सीधी मानवीय मूल्यों से सम्बन्धित मानी जायगी। एक मानव सबसे ऊपर केवल मानव रूप में ही देखा जाय तथा मानवता के जो श्रेष्ठ गुण निर्विवाद रूप से मान्य हैं, उन्हीं की कसौटी पर यह गुणवत्ता कसी जायगी और अपने विभिन्न चरणों में भी परखी जाती रहेगी।

समाज का सदस्य बनना विचारहीनता की नजर से सरल न माना जाय। सदस्यता की भी अनिवार्य योग्यताएं निर्धारित की जानी चाहिये तथा न्यूनतम योग्यता के आधार पर ही समाज की सदस्यता प्रदान की जानी चाहिये। क्योंकि एक-एक सदस्य ही समता समाज की बुनियाद का पुष्ट पोषक होगा। ठोक बजा कर एक-एक सदस्य नहीं बनाया जायगा तो ऐसी असावधानी बुनियाद को ही क्षति पहुंचायगी।

समता समाज का प्रत्येक सदस्य 'समता साधक' के नाम से जाना जायगा तथा उसका जीवन इस नाम का प्रतिबिम्ब होना चाहिये। तदनुसार अपनी-अपनी गुण साधना की अभिवृद्धि के अनुसार समाज के तीन गुण वर्ग होंगे जो उत्तरोत्तर अवस्था को प्रदर्शित करेंगे–

1. समतावादी– समता के गुण, धर्म एवं समता समाज के संविधान के विशिष्ट ज्ञान के साथ समता का सर्वत्र पोषण करने वाला वर्ग।

2. समताधारी– समता के सजग आचरण से अपने जीवन को विभूषित करने वाला तथा समता का ध्यान प्रचार–प्रसार करने वाला वर्ग।

3. समतादर्शी– समता गुण के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान, उसकी अटूट मान्यता तथा उसके सम्पूर्ण आचरण के साथ सबको दृष्टि से देखने वाला एवं सबके समान हित का पोषक वर्ग।

## समता साधक की सक्रियता

एक समता साधक का प्रधान गुण माना जायगा समता के क्षेत्र में उसकी सक्रियता, जो स्वयं से आरंभ होकर अपने उच्चतम सामर्थ्य के अनुसार गहरी और विस्तृत होती जायगी। उसे समाज से सजग प्रहरी के रूप में कार्य करना होगा तथा समाज भी उसके महत्त्व का उसी प्रकार से अंकन करेगा।

समता साधक वही व्यक्ति बनेगा, जो अपने गृहस्थ धर्म में प्रवृत्त रहते हुए भी अपने मन के समभाव को साधने के लिये तथा बाह्य वातावरण में समता के यथोचित प्रसार के लिये समुचित समय एवं अन्य प्रकार के योगदान दे सके। वास्तव में उसे अपने प्रारंभिक उत्साह का सदा उसी रूप में निर्वहन करना होगा ताकि उसके उत्साह एवं तदनुसार उसकी सक्रियता में कमी नहीं आवे। खरगोश की चाल की बजाय कछुए की एक सी चाल चलना उसके लिये श्रेयस्कर रहेगा।

समता समाज के सभी निर्णय, नियमोपनियम या कार्यों के संचालन नीचे के समता साधक के स्तर से ही विचारणीय होंगे और अन्तिम निश्चय में सम्बन्धित समता साधकों के अभिमत का पूरा–पूरा आदर किया जायगा।

## समतावादी आधा गृहस्थी, आधा त्यागी

समता समाज का निम्नतम गुण वर्ग समतावादियों का होगा। एक व्यक्ति अपने गुणाधार पर सीधा समाज का समतावादी बन सकता है और एक समता साधक भी अपने गुणों का तदनुरूप विकास करके समतावादी हो सकता है।

एक समतावादी जीवन के सभी पक्षों की साधना में रत रहेगा किन्तु ज्ञान पक्ष का उसे विशेष ज्ञाता होना होगा। वह इस दृष्टि से समता धर्म का व्याख्याता होगा और समता समाज का प्रवक्ता भी। समता के विचार–प्रसार

का उसका प्रधान दायित्व होगा क्योंकि उसे अपनी पर्याप्त शक्तियां इस क्षेत्र मे नियोजित करनी होंगी। वह एक स्थान पर रहेगा किन्तु उसे इस कार्य हेतु काफी भ्रमण भी करना होगा।

एक समतावादी की स्थिति का स्पष्ट उल्लेख यह किया जाय कि वह आधा गृहस्थ और आधा त्यागी होगा। पूरा समता समाज ही मुख्यतः त्याग का क्षेत्र रहेगा। इसमें कुछ न कुछ छोड़ने वाले ही प्रवेश पायेंगे तथा अधिकतम छोड़ने वाले उच्चतर वर्गो में अवस्थित होंगे। इसमें व्यक्ति को अपने पास से देना ही देना होगा, लेने की, विचारों और भावों के सिवाय, समाज से और कोई गुंजाइश नहीं रहेगी। तो समतावादी बनने के लिये त्याग की मात्रा बढ़ जायगी। वह पहले गृहस्थ रहेगा किन्तु गृहस्थी का आधा भार ही वह वहन करेगा तथा अवशिष्ट आधी शक्तियों को वह समाज के कार्यो में लगावेगा। दोनों ही समाज के कार्य होंगे कि समता के सम्बन्ध में वह अपने ज्ञान-पक्ष को सुदृढ बनावें एवं विचार प्रसार को विस्तार देवे।

## समताधारी पौन त्यागी, पाव गृहस्थी

समतावादी अपने ज्ञान पक्ष को सुदृढ़ बना लेगा, तब समताधारी वर्ग में उसकी प्रोन्नति हो सकेगी। जहां उसे अपने दर्शन पक्ष को सुदृढ बनाना होगा एवं गृहस्थी के कर्त्तव्यों से अधिक मुक्ति लेनी होगी। पौन त्यागी और पाव गृहस्थ का तात्पर्य यह कि समताधारी गृहस्थी नाम मात्र का ही होगा। उसका सारा समय स्वयं समता धारण करने में तथा दूसरों को आस्थापूर्वक समता धारण कराने मे ही लगेगा। सुदूर प्रान्तो तथा विदेशों में समता के प्रचार-प्रसार का उसका मुख्य दायित्व होगा क्योंकि वह अपने विचार और आचार दोनो सुदृढ़ पहलुओं से समता गुण धर्म से पूरी तरह अनभिज्ञ लोगों पर अपना कार्यकारी प्रभाव डाल सकेगा।

## सर्वस्व का त्यागी, समतादर्शी वर्ग

समतादर्शी वर्ग समता समाज का सर्वोच्च गुण वर्ग होगा जो सर्वस्व का त्यागी बन जायगा याने कि उसके तीनों पक्ष–ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के पक्ष सुदृढ ही नहीं होंगे, अपितु दूसरो के लिये आदर्श एवं अनुकरणीय भी होंगे। समता सम्बन्धी विचार भेद में समतादर्शी का निर्णय ही अंतिम होगा।

समता समाज के प्रकाश स्तम्भ होंगे ये समतादर्शी गण। इनके प्रकाश से समाज भी आलोकित होगा तो इन्हीं के प्रकाश में समाज के प्रवेश करने के

इच्छुक लोग अपना मार्गदर्शन पायेंगे।

## समता समाज का विचार व्यावहारिक है

वर्तमान परिस्थितियों से जनित मानसिकता में समता समाज का विचार किन्हीं लोगों को केवल एक आदर्श परिकल्पना के रूप में प्रतीत हो सकता है क्योंकि गुण, धर्म एवं गुण वर्ग का जो रेखांकन है उसे वे असाध्य मानें। किन्तु वस्तुतः यह विचार न केवल कल्पना है और न असाध्य। यह पूर्णतः व्यावहारिक है किन्तु इसे व्यवहार में उतारने के पहले काफी प्राथमिक तैयारी की भी आवश्यकता होगी जो भी कम कठिन नहीं है। कठिन ही क्या कठिनतम पर विजय पाने में ही पुरुषार्थ की सार्थकता है।

# 3

## समता समाज की रूपरेखा

एक शूरवीर को भी यदि अपने शौर्य्य को प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिले तो उसका शौर्य्य भाव भी सिकुड़ जाता है और कई बार आकस्मिक रूप से कोई विपदा आ जाती है तो सामान्य स्वभाव के व्यक्ति में भी ऐसा शौर्य्य जाग जाता है जो कुछ कर गुजरता है। एक कर्मवीर की भी ऐसी भी अवस्था मानी जा सकती है। यदि एक कर्मवीर के सामने भी समुचित अवसर नहीं आवे तो उसकी कर्मण्य शक्ति मुरझा सकती है और उपयुक्त अवसर उत्पन्न किया जाय तो हो सकता है कि सामान्य जन में भी कर्म का अपूर्व उत्साह जागृत हो जाय। अवसर और उपयुक्त अवसर उपस्थित करना भी एक बहुत बड़ी सेवा होती है जिसके माध्यम से सुषुप्त कर्मण्य शक्ति जागृत की जा सकती है और अकर्मण्यों में भी कर्म-शक्ति का बीजारोपण किया जा सकता है। किसी अवसर के निमित्त से ही किसी वर्ग अथवा क्षेत्र की कर्मठता का अनुमान लगाया जा सकता है।

कर्म शक्ति के जागरण में उपयुक्त अवसर के पश्चात् क्रम आता है नेतृत्व का। यदि नेतृत्व में गुण सम्पन्नता, साहस, उत्साह और प्रेरणा का स्रोत जीवन्त हो तो उसके पीछे चलने वाले अनुयायियों में जोरदार जोश रहता है। वे बराबर अपने नेता के पीछे रहते हैं और आसानी से हटते-भटकते नहीं हैं।

मूल में संगठन की शक्ति होती है। उसके सदस्यों की चरित्रशीलता एवं सामूहिक जीवन-शैली, जो सामान्यजन में किसी भी सदस्य की विश्वसनीयता सरलता से स्थापित कर देती है। यह शक्ति जितनी अधिक विकसित होती है, वह संगठन प्राणवान होता जाता है। इस शक्ति के विशेष विकास में संगठन की अन्य सभी आवश्यकताएं गौण हो जाती हैं।

समता समाज का यही लक्ष्य रहना चाहिये कि उसका एक-एक सदस्य सच्चा और कर्मशील समता साधक हो। उसका सौम्य जीवन सहज ही में किसी अन्य को प्रभावित कर सके। सदस्यों की शक्ति के संचय में तो समय लगेगा। अतः प्रारम्भिक ध्यान यह दिया जाय कि समता समाज एक उपयुक्त एवं प्राभाविक अवसर के रूप में सबके सामने आवे और कर्मवीर भी उठ खड़े हों तथा कर्म से दूर भागने वाले भी इसमें कर्म करने को प्रेरित हो जायं। इसके साथ ही नेतृत्व की गुणवत्ता पर भी पूरा बल देना चाहिये। नेता एक तरह से प्रदर्शन-पट्ट होता है जिसे पहले देखकर फिर संगठन की ओर देखा जाता है। अतः स्थानीय हो या उच्च नेतृत्व, प्रारम्भ से ही उसका चयन गुणाधारित रहना चाहिए।

अब इस पर विचार करें कि समता समाज का ढांचा कैसा हो और उसमें काम करने वालों के दायित्व स्वैच्छिक होते हुए भी फलदायी कैसे बन सकते हैं ? इस हेतु संगठन का स्वरूप निर्धारण बहुत सोच-विचार कर किया जाना चाहिये।

### समाज के संगठन का स्वरूप

संगठन दो प्रकार के हो सकते हैं—पहले वे, जो ऊपर से घड़े जाकर नीचे तक आते हैं या नहीं भी आते हैं– गुम्बद की तरह ऊपर ही ऊपर से सुशोभित रहते हैं। दूसरा प्रकार यह होता है कि संगठन नीचे से खड़ा हो और जड़ों में मजबूती पाता हुआ ऊपर उठता रहे– जैसे कि वट वृक्ष होता है जो नीचे जमीन के भीतर तक अपनी जड़ों को पक्की करके ऊपर तक उठता है लेकिन वह धरती से दूर नहीं रहता और नई-नई जड़ों को धरती की ओर फैंकता रहता है जमकर नये-नये आधार खड़े करने के लिये। इस प्रकार का सुदृढ़ आधार और विस्तार ही किसी संगठन को सुव्यवस्थित, कार्य कुशल एवं दीर्घजीवी बना सकता है। समता समाज के संगठन को यही दूसरा प्रकार अपनाना चाहिये।

इस दृष्टिकोण की पूर्ति के लिए एक अस्थायी संयोजन समिति का पहले गठन किया जा सकता है, जो स्वयं के प्रभाव से तथा अपने विशेष प्रतिनिधियों के प्रचार से समाज के अधिकाधिक सदस्य बनावे। सदस्यों की संख्या एक निर्धारित सीमा तक पहुंच जाय, तब संगठन का एक त्रिस्तरीय ढांचा खड़ा किया जा सकता है। इस हेतु प्रतिनिधियों का चयन निर्वाचन से नहीं, अपितु मनोनयन से किया जाना चाहिए। जैसे समझिये कि प्रारम्भ में

तीन स्तर हों– स्थानीय, प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय। समाज की स्थानीय शाखाओं की सबसे पहले स्थापना की जाय। इस शाखा में न्यूनतम सदस्यों की संख्या कितनी हो– यह वहां की जनसंख्या, सहयोग मात्रा एवं अन्य परिस्थितियों के आधार पर तय किया जा सकता है। एक बार शाखा का गठन हो जाने और उसके द्वारा कार्य शुरू कर देने के बाद प्राथमिक तौर पर अपनी सभी समस्याओं के समाधान वही खोजे। जितने सदस्य बनते हैं या बनते जाते हैं उनके द्वारा साधारण समिति गठित हो तथा उसके दस प्रतिशत मनोनीत सदस्यों से कार्य समिति का गठन हो। चाहे किसी पदाधिकारी का चयन हो या प्रतिनिधि का–मनोनयन की विधि यह हो कि किसी के नाम का प्रस्ताव चालीस प्रतिशत सदस्य रखें और उस पर बैठक में कम से कम बीस प्रतिशत सदस्य और सहमत होने चाहिये। तभी उस नाम का मनोनयन हो सके। नाम प्रस्तावित हो जाने के बाद उसे अपने प्रचार में कुछ नहीं करना हो।

स्थानीय स्तर से प्रतिनिधि मनोनीत होकर प्रादेशिक शाखाओं की रचना करें और इसी प्रकार प्रादेशिक शाखाओं के मनोनीत प्रतिनिधि राष्ट्रीय संगठन का रूप लें। समता समाज का ऐसा ढांचा पिरामिड जैसा होना चाहिये जो मूल में समता साधकों पर आश्रित रहे।

## समता साधक का प्रतिज्ञा-पत्र

समता समाज का जो भी सदस्य बनना चाहे, उसे समता साधक का प्रतिज्ञा-पत्र भर कर देना चाहिए। उसके लिए प्रारम्भिक योग्यताएं भी निर्धारित की जानी चाहिये कि उतनी योग्यताओं का धारक व्यक्ति ही समता-साधक का प्रतिज्ञा-पत्र भर सकता है।

समता साधक के प्रतिज्ञा-पत्र का प्रारम्भिक प्रारूप इस तरह का हो सकता है–

(1) समता साधक सप्त कुव्यसन–जुआ, मांस, शराब, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, शिकार तथा चोरी का सम्पूर्णतया त्यागी होना आवश्यक है।

(2) समता साधक अपने दैनंदिन के व्यवहारों में इन बातों का अवश्य विवेक रखे–

* क्रोध, लोभ, उग्र एवं कठोर वचन बोलने का विवेक रखे
* झूठ एवं सत्य को तोड़-मरोड़ कर बोलने का त्याग करे,
* मायावी क्रियाओं का त्याग करे

* परिग्रह को अमर्यादित रखने का त्याग करे,
* राजकीय कानून आदि के उल्लंघन का त्याग करे,
* सामाजिक एवं राष्ट्रीय अपव्यय नहीं करने का विवेक करे,
* भय तथा प्रलोभन का त्याग करे,
* अन्न, जल आदि आवश्यक वस्तुओं की सुरक्षा का विवेक करे,
* आलस्य का त्याग करे,
* चर्बी वाले वस्त्रों का तथा सौंदर्य प्रसाधनों वाली वस्तुओं का त्याग करे,
* संयम–नियम मय जीवन यापन का विवेक रखे।

(3) समता साधक मासिक एवं पाक्षिक नियमों को ग्रहण करे–

* माह में कम से कम दस दिन मैथुन सेवन का त्याग करे,
* माह में कम से कम दस दिन 5 विगयों में से कुछ विगयों का त्याग करे,
* अष्टमी–चतुदर्शी उपवास या एकासना करे,
* महिने में एक या दो आयंबिल तप करे,
* प्रतिदिन कम से कम एक सामायिक करे, या माह में 40 सामायिकें पूर्ण करे, सामायिक में समीक्षण ध्यान एवं समता साहित्य का अनुशीलन करे।

(4) समता साधक पारिवारिक एवं सामाजिक स्तर पर फैले कुरीति-रिवाजों के उन्मूलन की दिशा में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करे जिसमें वह–

* स्वयं दहेज की मांग एवं प्रदर्शन का त्याग करे,
* मृत्यु भोज एवं मृत्यु पर दिखावटी रोने–धोने का त्याग करे,
* वैवाहिक अवसरों पर अश्लील नाच, गान का त्याग करे,
* अस्पृश्यता का उन्मूलन करे,
* मांसाहारी होटलों में जाने का त्याग करे,

* असंयम एवं स्वच्छंद जीवन को प्रोत्साहित करने वाली तमाम बातों का विवेक करे। इसी तरह अन्य व्यक्तियों को इस दिशा में गतिशील बनावे।

(5) समता साधक दो घंटे प्रतिदिन या माह में पचहत्तर घंटे का समय समाजोन्नयन एवं समता दर्शन के प्रचार-प्रसार में लगावे तथा अपनी आय का दस प्रतिशत या बीस प्रतिशत भाग समता समाज के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में अर्पित करे।

इन प्रतिज्ञाओं के निर्धारण का आधार यह होना चाहिए कि किसी सामान्य व्यक्ति के जीवन से एक समता साधक का जीवन स्तर उच्च एव आदर्शमय दिखाई दे। यह तब हो सकेगा जब इन प्रतिज्ञाओं का प्रारम्भिक स्वरूप-स्वीकृत किया जायेगा तथा आगे के साधनात्मक जीवन को विकसित करने के लक्ष्य की ओर चरण बढ़ाये जायेंगे।

## गुण वर्गों का मार्गदर्शन

समता समाज के संगठन में तीनो गुण-वर्गों—समतावादी, समताधारी तथा समतादर्शी का क्या सक्रिय योगदान चाहिये तथा उनकी अर्हताओं का क्या मापदंड और विवरण निर्धारित हो—यह गंभीर विषय है तथा गंभीरतापूर्वक वस्तुविषय का निष्पादन करके उच्चस्तर से निर्णय लिये जाने चाहिये।

सामान्य रूप से तीनो वर्गों के लिये इस प्रकार की व्यवस्था पर विचार किया जा सकता है जो संगठन को मार्गदर्शन देती रहे।

(1) स्थानीय स्तर की शाखा में मनोनीत समतावादी और समताधारी सदस्य सलाहकार परिषद् के रूप में कार्य करे। समतादर्शी सदस्य संगठन से सीधे रूप से सम्बन्धित नहीं रहे, सभी स्तरों पर उनका मार्ग दर्शन मिले तथा समता सम्बन्धी किसी भी विचार-विवाद में उनका निर्णय अन्तिम और मान्य हो।

(2) स्थानीय सलाहकार परिषद् के मनोनीत प्रतिनिधि ही प्रांतीय सलाहकार परिषद् तथा उनके प्रतिनिधि राष्ट्रीय परिषद् का गठन करें किन्तु प्रांतीय शाखाओं व केन्द्र को अधिकार हो कि एक अमुक संख्या तक वे सलाहकार संगठन के प्रति सहानुभूति रखने वाले प्रमुख [illegible] सकें।

(3) सामान्य परिस्थितियों में सलाहकार परिषद् का कार्य साधारण व कार्य समितियों पर देखरेख करने व समुचित निर्देश देने का हो। किन्तु यदि किसी भी विषय पर विवाद हो जाय तो उस पर सलाहकार परिषद् का निर्णय ही अन्तिम और मान्य हो।

(4) सलाहकार परिषद् के सदस्य अपना सक्रिय सहयोग समता गुणधर्म के विदेशों तक के प्रचार कार्य में, भाषण मालाएं, प्रश्नोत्तरियां या गोष्ठियां आयोजित करने, नवनिर्धारित पर्वों के मनाने आदि में देगे। साहित्य सृजन का कार्य भी गुण वर्गों के सदस्य देखेंगे।

(5) सभी शाखाओं और परिषदों के गठन में इस तथ्य का ध्यान रखा जाय कि अधिक से अधिक क्षेत्रों या वर्गों के प्रतिनिधित्व मिल सके, किन्तु समाज के कार्यों में क्षेत्रीय या वर्गीय हठ अथवा संकुचित भाव न रहे।

इस प्रकार की व्यवस्था के पीछे विचार यह है कि समता साधकों में अधिक प्रतिशत युवा वर्ग का होगा। अतः मुख्य कार्य का भार उनके कंधों पर रखा जाय। तदनुसार वर्गों में वृद्ध–प्रबुद्ध वर्ग का बहुमत होगा जिनके जिम्मे देखरेख, सलाह, साहित्य निर्माण, विचार–प्रचार का काम ही उपयुक्त रहेगा ताकि वे अपने निजी जीवन में समता की उच्चतर साधना में भी निमग्न रह सकें।

## विविध प्रवृत्तियों का संचालन

समता समाज के संगठन में यह परिपाटी रखी जाय तो श्रेष्ठ रहेगा कि सभी स्तरों की शाखाएं या केन्द्र की समितियां सामान्य प्रकार के काम काज को चलावें किन्तु प्रत्येक नई प्रवृत्ति, नये अभियान या कार्यक्रम के लिये पृथक् उपसमिति का गठन किया जाय जिसमें समितियों व परिषदों के उन सदस्यों को मनोनीत किया जाय जो उस प्रवृत्ति, अभियान या कार्यक्रम के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान एवं कार्य विधि के ज्ञाता हों। इन उपसमितियों का अपनी आवश्यकताओं के लिये स्थायी समितियों से तालमेल रहे लेकिन इन्हें अपने कार्य संचालन में पूर्ण स्वायत्तता हो। ये उपसमितियां अपने गठन कर्त्ताओं के प्रति उत्तरदायी होंगी। इस प्रकार की परिपाटी से विविध प्रवृत्तियों के संचालन में विशेष कुशलता लाई जा सकेगी तथा वह संचालन परिणामदायी सिद्ध हो सकेगा।

समता समाज द्वारा अपने सभी स्तरों पर संचालित की जाने वाली विविध प्रवृत्तियां इस प्रकार की हो सकती हैं–

(1) समता विचार के प्रचार–प्रसार सम्बन्धी कार्य जो देश के सुदूर प्रदेशों तथा विदेशों तक में चले।

(2) उपदेश या भाषण मालाएं, गोष्ठियां आदि स्थान–स्थान पर आयोजित करने सम्बन्धी।

(3) समता मूलक साहित्य सृजन सम्बन्धी।

(4) समता साधना केन्द्रों की स्थापना सम्बन्धी।

(5) स्थानीय शाखाओं के निर्देशन, निरीक्षण एवं संरक्षण सम्बन्धी।

(6) समता साधना के आचरणगत पहलुओं के पोषण सम्बन्धी।

(7) दया, दान एवं सहयोग विषयक प्रवृत्तियों सम्बन्धी।

(8) सामयिक एवं तात्कालिक विषयों पर आन्दोलन संगठित करने सम्बन्धी।

(9) किसी कुरीति, कुप्रथा या कुमान्यता के विरुद्ध अभियान शुरू करने सम्बन्धी।

(10) निर्धन, बेरोजगार, असहाय, विधवा, विकलांग, निरुपयोगी पशु आदि की सहायता से सम्बन्धित प्रवृत्तियों सम्बन्धी।

(11) प्राकृतिक अथवा हिंसागत विपदाओं के समय में विशेष मानव सहायता सम्बन्धी।

इस प्रकार की कई प्रवृत्तियाँ तात्कालिक अथवा स्थायी प्रभाव की हो सकती हैं, जिनमें समता समाज अपना योगदान देकर मानवता के उच्च मूल्यों को निखार सकता है। किसी भी प्रवृत्ति को कार्यान्वित करने की कसौटी यह होनी चाहिए कि उससे मानवता की सेवा होगी या नहीं मानवीय सहानुभूति पुष्ट बनेगी या नहीं अथवा मानवीय कार्य शक्ति उभरेगी या नहीं।

समता समाज की प्रत्येक कार्यगतिविधि, विचारधारा या प्रवृत्ति का मूल केन्द्र मानव होना चाहिये, क्योंकि मानव की मानवता सुरक्षित होगी तो सम्पूर्ण प्राणी समूह की रक्षा भी सहज हो जायगी।

## सम्पूर्ण समतामय परिवर्तन की चेष्टा

समता समाज के लिए सदा दोषों को देखते रहने और अपने आचरण की आलोचना करने का मुख्य बिन्दु यह रखना चाहिये कि समाज की गतिविधियों

से वास्तव में पहली बात तो यह कि कोई परिवर्तन विचारों में व आचरण में हो रहा है या नहीं और यदि ऐसा परिवर्तन हो रहा है तो वह समतामय है या नहीं ? कारण समाज का अन्तिम लक्ष्य सम्पूर्ण समतामय परिवर्तन का होना चाहिए।

सम्पूर्ण समतामय परिवर्तन यह कोई सरल या सामान्य लक्ष्य नहीं है। भांति-भांति की सैकड़ों विविधताओं के उलझे-उलझे समूहों में से उन सूत्रों को खोज निकालना जो सबके मन में समान रूप से रही हुई समता की चाह से सम्बन्धित हो तथा उन सूत्रों को जोड़ कर ऐसी संयुक्त व सशक्त कार्य विधि तैयार करना जिससे अपनी सारी विविधताओं के उपरान्त भी समताभिलाषी पुरुष जुड़ने को तत्पर बन जायं।

समता समाज की प्रारम्भिक संगठनात्मकता, सदाशयी कार्य प्रणाली एवं व्यक्तिगत चारित्रशीलता का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ना चाहिये कि वर्तमान क्षेत्रों या वर्गों के अधिकतम समूहों से व्यक्ति समाज की ओर आकर्षित बनें तथा इससे जुड़ जाने को तैयार हों। इसका विशेष लाभ यह हो सकेगा कि समता-भावना से रंग कर ऐसे व्यक्ति जब अपने क्षेत्र और वर्ग में जायेगे तो समता समाज की विशिष्ट प्रभावना हो सकेगी जो संगठन के त्वरित विस्तार में सहायक बनेगी।

धनुष बाण लिये निशाना साधने को तत्पर योद्धाओं से ऊपर घूमती हुई धातु की चिड़िया के दिखाई देने के बारे में पूछा गया तो अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग सारहीन से उत्तर दिये किन्तु अर्जुन ने इतना ही कहा कि उसे उस चिड़िया की सिर्फ दाहिनी आंख ही दिखाई दे रही है, और कुछ नहीं और उसका लक्ष्य वेध सफल रहा। किसी भी संगठन की सफलता उसके लक्ष्य के प्रति सबकी एकाग्रता एवं एकनिष्ठा पर निर्भर करती है।